व्यंग्य की जुगलबन्दी

जुगलबन्दी

लतीफ़ घोंघी
ईश्वर शर्मा

प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, २०५-बी, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
संस्करण : प्रथम, १९८७ / सर्वाधिकार : सुरक्षित / मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स,
दिल्ली-३२ मूल्य : पचास रुपये

VYANGYA KI JUGALBANDI
by Latif Ghonghi & Ishwar Sharma

Rs. 50.00

व्यंग्य की नई चित्रशाला से गुजरने की अनुभूति : व्यंग्य की जुगलबन्दी

डा० बालेन्दुशेखर तिवारी

व्यंग्यकार लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा की जुगलवन्दी से गुजरना लेखन और प्रस्तावन, व्यंग्य और रचनाशीलता, शैली और विधा स्थापना की एक नई चित्रशाला से गुजरने के समानान्तर है। किसी मामूली सी बात, घटना या स्थिति का अलग-अलग रचनाकारों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसी की परिचिति यह जुगलवन्दी कराती है।

हिन्दी में कई लेखकों के सम्मिलित प्रयास से उपन्यास का लेखन तो हुआ है, लेकिन व्यंग्य की दिशा में यह एक विलक्षण घटना है कि लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा ने एक ही अधीत विषय को अपने-अपने कोण से जुगलवन्दी का क्षेत्र बनाया है। जूता हो या फिल्म, फायर ब्रिगेड हो या क्रिकेट, शवयात्रा हो या श्रद्धांजलि, प्रश्नचिह्न हो या सम्भावना, चिन्ता हो, या आश्वासन—सबकी पड़ताल करने के लिए व्यंग्यकारों ने अपनी-अपनी कलम और स्याही का इस्तेमाल किया है।

व्यंग्य को परवान चढ़ाने और उसे सही तथा नई दिशाओं की ओर उन्मुख करने में इस जुगलवन्दी का अपना ऐतिहासिक महत्व है, इसे भविष्य में शोधकर्ता सिद्ध करेंगे। जुगलवन्दी के माध्यम से व्यंग्य-लेखन का एक नया आकाश खुला है। मुझे तनिक भी आश्चर्य न होगा यदि लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा की परम्परा में कुछ अन्य जुगलवन्दियां शुरू हो जाएं।

व्यंग्य-क्रम

अपनी तरफ से

'व्यंग्य की जुगलवन्दी' के पीछे हिन्दी व्यंग्य साहित्य में कोई नया प्रयोग करने या चौंकाने की कोई भावना हमारे मन में कतई नहीं थी। अनायास एक विचार जन्मा कि किसी एक शब्द को केन्द्र-विन्दु मानकर उससे ध्वनित होने वाली व्यंग्य की स्थितियों, घटनाओं, चरित्रों और संकेतों के माध्यम से व्यक्ति, समाज, व्यवस्था और राजनीति की वर्तमान विसंगतियों, विद्रूपताओं, विडम्बनाओं और विकृत मानसिकता की मुखौटेवाजी को लेकर हम दोनों एक ही समय में अलग-अलग व्यंग्य रचनाएं इस तरह लिखें कि, प्रहार का केन्द्र-विन्दु उस शब्द विशेष की धुरी से हटने न पाये और रचना में व्यंग्य का समग्र प्रभाव भी वना रहे। जुगलवन्दी की इन रचनाओं में हम कहां तक सफल हुए हैं, यह तय करना व्यंग्य-रचनाधर्मिता से जुड़े रचनाकारों, समीक्षकों और व्यंग्य के जागरूक पाठकों की जिम्मेदारी का काम है।

वहरहाल, हम अमृत-सन्देश (दैनिक) रायपुर तथा अमर उजाला (दैनिक)वरेली-आगरा के आभारी हैं कि हमारी जुगलवन्दी की इन रचनाओं को व्यंग्य के एक नियमित स्तम्भ के रूप में प्रकाशित कर उसे व्यंग्य के जागरूक पाठकों तक पहुंचाया। साथ ही, सर्वश्री—रवीन्द्रनाथ त्यागी, नरेन्द्र कोहली, डा० शंकर पुणताम्वेकर, के० पी० सक्सेना, डा० वालेन्दु शेखर तिवारी, हरीश नवल और प्रेम जनमेजय के प्रति हम अपना आभार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने जुगलवन्दी की इन व्यंग्य रचनाओं को पढ़ा, और अपने विचारों से हमें अवगत कराया।

महासमुन्द
१७ अप्रैल, १९८७

लतीफ घोंघी
ईश्वर शर्मा

हिन्दी व्यंग्य के क्षेत्र में पहली दुर्घटना जुगलबन्दी

रवीन्द्रनाथ त्यागी

कभी पढ़ा था कि फ़ैज़ी ने एक अधूरी किताब को पूरा किया था। वाद में उस पुस्तक की पूरी प्रति भी मिल गई। मिलाने पर पता लगा कि दोनों पुस्तकों में एक अक्षर का भी अन्तर नहीं था। शहंशाह अकबर ने फ़ैज़ी को खिलअत दी और भरे दरबार में उसकी तारीफ़ की। वाद में पढ़ा कि देवकीनन्दन खत्री के एक अधूरे उपन्यास को उनके सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरा किया। मुंशी प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास (मंगल सूत्र) शायद कोई पूरा नहीं कर सका। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव और उनकी प्रतिभावती पत्नी मन्नू भंडारी ने मिलकर एक उपन्यास लिखा, मगर उसने गृहयुद्ध को जन्म दिया। कुछ लोगों का कहना था (जिनमें खाकसार भी शामिल है) कि पत्नी जो थी वह पति को पीछे छोड़कर आगे निकल गई। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' व कौशल्या 'अश्क' ने 'शिकायतें और शिकायतें' लिखकर हिन्दी साहित्य में जुगलबन्दी की शुरुआत की। और जनप्रख्यात व्यंग्यकार लतीफ घोंघी व सफल व्यंग्यकार ईश्वर शर्मा ने मध्य प्रदेश के 'अमृत सन्देश' में 'जुगलवन्दी' की तो हिन्दी के हास्य-व्यंग्य लेखन ने एक नया आयाम पाया।

मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य की खान है। वहां से हमें एक के वाद एक महान साहित्यकार मिला है। पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी, हरिशंकर परसाई, सेठ गोविन्ददास, अंचल, (महाकवि) द्वारिकाप्रसाद मिश्र, मुक्तिबोध, सुभद्राकुमारी चौहान, शरद जोशी, धनंजय वर्मा, शानी, लतीफ घोंघी, एक भारतीय आत्मा, और पता नहीं कौन-कौन शक्तिशाली लेखक व कवि मध्य प्रदेश से ही आए। उत्तर प्रदेश का दुष्यन्तकुमार भी मध्य प्रदेश में ही जाकर

चमका। शायद वहां की जलवायु ही ऐसी है कि साहित्य को पनपने देती है। यदि मध्य प्रदेश की सरकार मुझे मध्य प्रदेश में कोई आलीशान कोठी एलाट कर दे तो मैं भी वहां जाकर बसने के लिए तैयार हूं। हां, पत्नी मैं नयी रखूंगा। फिलहाल जो मुसम्मात मेरी धर्मपत्नी चल रही है, वह इतने प्रश्न पूछती है कि उनके उत्तर मैं उत्तर प्रदेश में ही दे सकता हूं, उसके बाहर नहीं। कोई रूपवती, कम उम्र और अमीर विधवा मिल जाए तो मैं हिन्दी साहित्य को इतने नये आयाम दे सकता हूं कि कुछ कह नहीं सकता। अब मैं छप्पन वर्ष का हो गया हूं और इस कारण पत्नी रूपवती ही हो, यह काफी है; 'लूपवती' होने की जरूरत नहीं। इधर दो हिन्दी लेखिकाएं मुझे अतिरिक्त स्नेह दे रही हैं। एक पंजाब से है और दूसरी मद्रास से। एक की उम्र मेरी लड़की के बराबर है और दूसरी की मेरी माता के बराबर। मध्य प्रदेश में तो मैं 'मध्य' आयु की पत्नी ही पसन्द करूंगा। विधवा स्त्री पर इसलिए जोर दे रहा हूं कि यदि कहीं उसे दुबारा विधवा होने का अवसर मिल जाए तो ज्यादा दुखी न हो।

'अमृत संदेश' की इस जुगलबन्दी के गायकों ने जिन शास्त्रीय राग-रागिनियों को आलाप दिया है, उनमें से कुछ आलाप नीचे प्रस्तुत करता हूं:

"उन्होंने एक बेट्समेन की तरह मुहल्ले में चारों ओर अपनी नजरें घुमायीं, जैसे देखना चाहते हों कि उन्होंने बातों का ड्राइव्ह मारा तो किधर से फील्डर दौड़ेगा? फिर मेरी ओर आहिस्ता से आये, कुछ इस तरह कि कपिल मनिन्दर के पास आता है। कहने लगे—हम तो फालोआन से बच जाएं यही बहुत है। चार लड़कियां और निपट जायें, तो अपना हज हो गया समझो।"

—लतीफ घोंघी

"पहले आपातकाल की स्थिति युद्ध के समय दिखाई
क्रिकेट के समय दिखाई पड़ती है। पूरा राष्ट्र अपने व्यक्ति
गत हितों को भूलकर एक दिखाई पड़ता है। भावना
शत-प्रतिशत लक्षण दिखाई देने लगे हैं। व्यापारी व्य

अफसर, वाबू दफ्तर छोड़ देते हैं। छात्र स्कूल छोड़ देते हैं। घर में औरतें चौका-वर्तन छोड़ देती हैं। राष्ट्रहित सर्वोपरि हो जाता है। सबके मन में दुआ होती है कि गावस्कर एक सेंचुरी और बना ले। ऐसी अटूट एकता तो देश के आक्रमण के समय भी दिखाई नहीं पड़ती।"

—ईश्वर शर्मा

फिल्म

"मैं समझता हूं—भइया, यह फिलिम-विलिम का चक्कर छोड़ो। यह वास्तविक जीवन है और यहां कोई हीरो नहीं होता। जो भी आता है, वह बाद में विलेन ही निकलता है। कोई आकर आज तुम्हें इस विलेन से बचा भी ले तो बाद में खुद विलेन बनकर तुम्हारा शोषण करेगा।"

—ईश्वर शर्मा

"हीरोइन बोली—अभी तुम फिल्म लाइन में नये हो। मैं इतना नखरा नहीं करूंगी तो मुझे हीरोइन कौन मानेगा। एक्स्ट्रा और हीरोइन में कुछ तो फर्क होना चाहिए। मुझे तो तुम पर तरस आता है···कहां फंस गये फिल्मों में। आत्मसम्मान की इतनी ही चिंता थी तो किसी चौराहे पर पान की दूकान खोल लेते···लेखक होकर दलाली···और बात पूरी करने के पहले ही हीरोइन कूदकर घोड़े की पीठ पर बैठ गई।"

—लतीफ घोंघी

आश्वासन

"मेरे विचार से तो यह आश्वासन शब्द ही भारी अर्थपूर्ण है। जो आश्वासन दे रहा है वह जानता है कि इन्हें पूरा करने की कोई जरूरत नहीं है। जो आश्वासन प्राप्त कर रहे हैं उन्हें भली भांति मालूम है कि वे पूरे होने वाले नहीं हैं। फिर भी वे बड़ी श्रद्धा से आश्वासन प्राप्त कर प्रसन्न हो लेते हैं। लेने और देने वाले दोनों खुश। किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं। तुमने लिया तो उसने दिया। उसने दिया तो तुमने लिया।

हो गया है। चिता पूरी जली नहीं है और हम जल्दी ही पंच-लकड़ी डाल कर वापस लौट आये हैं।"

— ईश्वर शर्मा

चिन्ता

"मैंने बड़े-बड़े चिन्ता करने वाले देखे हैं, लेकिन हमारे चिन्ताराम गुरु जी जैसा चिन्ताप्रधान आदमी नहीं देखा। उनके रोम-रोम में चिन्ता बसी है। जिस टावेल से वे अपना पसीना पोंछते हैं उस टावेल से चिन्ता की गन्ध आती है। आप इसी से पता लगा सकते हैं कि उनकी चिन्ता का स्तर कितना ऊंचा है। उनको हमने कभी खाली नहीं देखा। जब भी देखा किसी न किसी बात पर चिन्ता व्यक्त करते हुए ही देखा है। चिन्ताराम गुरुजी को तो विदेश में होना था लेकिन वे अपने यहां सड़ रहे हैं। इसे ही कहते हैं विधि की विडम्बना। आपने उनसे बात शुरू भी नहीं की और वे उदास हो जायेंगे। उनको इस बात की चिन्ता लग जायेगी कि जाने हम क्या कहने वाले हैं। ऐसे महापुरुष विरले ही मिलते हैं। लेकिन हमारे यहां तो हैं। चिन्ता में वे इतना डूब गये हैं कि उन्होंने घर का नाम ही चिन्ता-निवास रख दिया है।"

—लतीफ घोंघी

"ये चिन्तामणी चिन्ता व्यक्त करेंगे—देश की हालत बिगड़ती जा रही है। भविष्य में अन्धकार के सिवाय कुछ नजर नहीं आ रहा है। आप इनसे कहें—चलो हम और आप मिलकर हालत सुधारने का काम करें, कुछ रोशनी लाने की पहल करें, तो इनका जबाव होगा—मुझे अभी फुरसत नहीं है। इन्हें फुरसत मिल भी कैसे सकती है। जिन्हें जीवन के हर पहलू पर केवल चिन्ता व्यक्त करना है वह किसी दिशा में सुधार के लिए वक्त कैसे निकाल सकता है? हर व्यक्ति अपने स्थान पर बैठा-बैठा दुखी हो रहा है। मिलने वालों को दुखी कर रहा है और रात को लम्बी तानकर मीठी नींद सो रहा है।"

—ईश्वर शर्मा

जूता

"स्वतन्त्र उम्मीदवार की तरह जूते की अपनी कोई इमेज नहीं होती। उसकी कोई पहचान नहीं होती। उसकी पहचान होती है तो केवल पैरों से। नेताजी का जूता इसलिए सम्माननीय होता है क्योंकि वह नेता जी का है। जब तक पैरों में रहेगा हमेशा सिद्धान्त, नीति और निष्ठा की ही बात करेगा और यदि वही जूता किसी सरकारी कर्मचारी के पैरों में आ गया तो सबकी ऐसी-तैसी। यह जूतों का कमाल नहीं, पैरों का कमाल है।"

—लतीफ घोंघी

"जूते से वैसे कई लाभ भी हैं। पैरों की सुरक्षा, चलने-फिरने में उसकी दूसरी कोई वैकल्पिक व्यवस्था न हो तो मारपीट के समय जूता हाजिर है। जो काम जुबान की चिरौरी-विनती से नहीं होते, वे काम जूते की महिमा से मिनटों में हो जाते हैं। जूता पहनाया जाता है, पहना जाता है, दिखाया जाता है और लगाया भी जाता है। गुणों की खान है जूता।"

— ईश्वर शर्मा

संभावना

'संभावना आदमी को जो जीवित रखती है और जैसा कि मैंने पहले कहा कि मैं आदमी हूं इसलिए आज तक जी रहा हूं। मेरी रोग-निरोधक शक्ति चाहे जैसी हो, लेकिन पच्चीस हजार की संभावना का इसमें पूरा योगदान है, और इसे नकारना, भारतीय व्यंग्य साहित्य को नकारना होगा।"

—लतीफ घोंघी

"लोग अब सपने नहीं संभावनाएं हैं। हम जिस-तिस से जुड़ते हैं उस की संभावनाएं देख लेते हैं। हमें जो साथ रखता है, वह हमसे पूरी होने वाली संभावनाएं टटोलता है। अफसोस केवल यही है कि संभावनाओं में कहीं कोई आत्मीयता का भाव नहीं है, दर्द का रिश्ता नहीं है।"

—ईश्वर शर्मा

;अनशन

"बीड़ी का आखिरी लम्बा कश खींचकर फेफड़ों में धुएं का ढेर समेटते हुए गंगाराम को देखकर ऐसा लगा, मानो इस प्रश्न की पूरी कड़वाहट निगलने की वह कोशिश कर रहा है। उसने कहा—आज कौन जनसेवा के लिए अनशन पर बैठता है? जिसे व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करना होता है, वही अनशन की बैसाखी का सहारा लेता है। मांगें तो इस देश में घर की खेती हैं, चाहे जितनी पैदा कर लो।"

—ईश्वर शर्मा

"वह कहना चाहते थे—पेट भरा हो तो सबको सिद्धान्त की बात सूझती है। एक दिन भूखे रहो तब पता चलेगा, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं कहा। ऐसा कहने से अनशन की गरिमा समाप्त होती थी, इसलिये वे बोले—वे यदि मुझे लिखित रूप से आश्वासन दें कि नगरपालिका में व्याप्त अनियमितता की जांच करेंगे, तो मैं अनशन तोड़ने के लिये तैयार हूं।"

—लतीफ़ घोंघी

प्रश्नचिह्न

"सच पूछिये तो पूरा देश प्रश्नचिह्नों के बल पर ही चल रहा है। देश चल रहा है या नहीं? नहीं चल रहा है तो कब चलेगा? चल रहा है तो कैसे चल रहा है? किसके दम पर चल रहा है? ऐसे कैसे चल रहा है? जब कोई चला ही नहीं रहा है तो कैसे चल रहा है? वे आये तो क्यों? गये तो क्यों? बोले तो क्यों? और नहीं बोले तो क्यों?

अर्थ यह कि प्रश्नचिह्न के भरोसे ही गाड़ी खिंच रही है। हर व्यक्ति चेहरे पर प्रश्नचिह्न लिये घूम रहा है। दिशा तय नहीं है, रास्ता नहीं मालूम, लेकिन बहस की पूरी गुंजाइश है। बलिहारी है प्रश्नचिह्न की।"

—ईश्वर शर्मा

"उनके चेहरे पर मुस्कान छा गई। बोले—बिल्कुल ठीक है। अब समझ में आया आपको कि प्रश्नवाचक क्या है? बुद्धिमान आदमी की तरह

व्यंग्य-लेखन की जुगलबंदी : एक नई दिशा

शंकर पुणताम्बेकर

इतवारी अमृत संदेश (रायपुर) में लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा के बीच चल रही व्यंग्य-जुगलवन्दी के कोई चौदह जोड़ी लेख मैंने पढ़े। मेरे ख्याल से इस तरह की यह जुगलवन्दी प्रथम बार ही हो रही है। एक पत्रिका में एक विषय पर दो लोग लिखें विशेषत: व्यंग्य लिखें, यह अपने आप में अनोखी बात है। लतीफ घोंघी हिन्दी के जाने-माने व्यंग्यकार हैं, पर इनके साथ मुकाबला करते हुए जिस तरह की लेखनी चातुरी-पैंतरेवाजी ईश्वर शर्मा दिखाते हैं, उसे देख लगता है, ये भी कम अखाड़ेवाज नहीं हैं। नीचे हम कुछ उद्धरण दे रहे हैं—दोनों की ही रचनाओं में से और आप मुश्किल से ही वता सकेंगे कि कौन पंक्तियां किसकी रचना में से हैं—

> "इस देश में लोग केवल वीमारियों से ही नहीं मर रहे हैं। कई लोग ईमान से, धर्म से और नैतिकता से मर रहे हैं। इन्हें वचाने के लिए दवाइयां कहां से लाओगे ?"

> "मजाल है कि कोई व्यक्ति इनकी (श्रद्धांजलि देने वालों की) नजरों में आये विना ही मर जाए। यदि मर गया तो उसे स्वर्ग कौन भेजेगा ? ...ये मरने वाले की पता नहीं कौन-कौन-सी अच्छाई खोज लाते हैं।"

> "मुख्यमंत्री तो सभी साहित्यकारों को आमन्त्रित कर रहे हैं : वीमार पड़ो और हमारे सहायता कोष से रुपया भुना लो। जिनका पउवा है, वे वीमार पड़ रहे हैं।"

"क्रिकेट राजनीति की प्राथमिक पाठशाला है, जहां सिखाया जाता है अपना विकेट बचाये रखो, भले ही टीम हार जाये।...कोई गांधी, नेहरू, सुभाष, रमन, भाभा नहीं बनना चाहता, सबकी इच्छा गावस्कर, कपिल, बॉथम, रिचर्ड्स, सोबर्स, इमरान बनने की है।"

"नगरपालिका में फायर ब्रिगेड आ गया। नगरपालिका ने मुनादी करवा दी है, सब लोग निश्चिन्त होकर अपने घरों में आग लगा सकते हैं।"

"बेशर्म...बिना धूप-पानी के बढ़ने वाला सदाबहार पौधा है, यह बैठक तक ही (सीमित) नहीं, यह तो पूरे अंचल में फैल गया है।"

"अपने देश की सार्थक भाषा है तो प्रश्नचिह्न की भाषा।"

"इन दिनों नगर में दवाई की चार-पांच दुकानें एक साथ खुल गयी। मुझे तत्काल समझ मे आ गया कि अब नगर में मरने की सम्भावनाएं बढ़ गयी हैं।"

मैं तो ईश्वर शर्मा को दाद देता हूं कि वे लतीफ घोंघी के साथ कहीं कम हीं पड़ते। मैं तो यहां तक कह सकता हूं कि यदि ईश्वर शर्मा की रचना तीफ घोंघी के नाम से छप जाय, तो लतीफ घोंघी के नाम को जरा भी बट्टा लगे।

मुझे दुख इस बात का है कि ईश्वर शर्मा इतने सशक्त व्यंग्यकार होते ए भी केवल अंचल या प्रान्त विशेष के ही क्यों बनकर रह गये हैं। इस ंग्यकार की स्थान सीमाएं टूटनी चाहिए, पर यह एकदम सम्भव भी हीं। साहित्य की दुनिया में भी कितनी फिल्मनीति, क्रिकेटनीति, संस्था-ीति, टीवीनीति, या राजनीति है। यही कारण है कि स्थितियों और शब्दों साथ खिलवाड़ करने वाले कितने ही विदूषक धड़ल्ले से विदूषक व्यंग्य-ार बने हुए पुज रहे हैं। इनकी मसाला रचनाएं मंजिल तो पा जाती है र बुनियाद नहीं।

प्रस्तुत जुगलबन्दी पर एक पाठक अश्विनीकुमार दुबे की ठीक ही प्रति-

क्या है कि व्यंग्य की जुगलबन्दी अच्छा खासा मजा दे रही है। तारीफ है ईश्वर शर्मा की। डटे हुए हैं, एक मंजे हुए व्यंग्य गवैये लतीफ घोंघी के साथ।

ईश्वर शर्मा की फायर ब्रिगेड, चिन्ता, क्रिकेट, फिल्म, काफी सशक्त हैं। इतनी कि वे लतीफ घोंघी से भी आगे निकल जाते हैं। इसका कारण यह भी कहा जा सकता है कि इन शीर्षकों में घोंघी ने कथा शैली को अपनाया है तो शर्मा ने निबन्ध शैली को। कथा में किसी प्रसंग या चरित्र तक बात सीमित रह जाती है जबकि निबन्ध अपने केन्द्र-बिन्दु के माध्यम से मुक्त चौकड़ियां भरता है...उड़ानें लेता है। भाषा की कसौटी गद्य है, गद्य की कसौटी निबन्ध। और आज तो यह कहने की नौबत आ गयी है कि निबन्ध की कसौटी व्यंग्य है। ईश्वर शर्मा की उपरोक्त रचनाएं हमारे इस कथन की पुष्टि करती हैं।

प्रश्नचिह्न, शवयात्रा, श्रद्धांजलि, सम्भावना—तुल्यबल की समर्थ रचनाएं हैं। जबकि अनशन, आश्वासन, जूता, बेशरम, आदरणीय—तुल्यबल की कमजोर रचनाएं हैं।

दोनों ही व्यंग्यकार देश की गिरती हालत के प्रति जागरूक हैं। लतीफ घोंघी एक तरफ कहते हैं कि देश में आज एक भी स्थिति ऐसी नहीं है, जिसे आप हजम कर सकें, तो एक तरफ ईश्वर शर्मा कहते हैं—यह देशरूपी बस चल रही है या नहीं ? अगर चलेगी तो अपने गंतव्य तक पहुंचेगी या नहीं ?

इस संदर्भ में दोनों ही जहां भी उपयुक्त अवसर होता है देश के राजनेताओं को आड़े हाथों भी लेते हैं। यथा, "मैं जानता हूं काका, साला (यह) काटेगा, मोटे चमड़े का (जो) है।" (घोंघी) "जो व्यक्ति समाज से ही उगाह कर खाता, पहनता है, जिसके पास स्वयं की कोई जिम्मेदारी न हो, उसका जीवन तो राष्ट्र को समर्पित होगा ही।" (शर्मा) देश की राजनीति के सम्बन्ध में शर्मा की यह उक्ति कितनी मार्मिक है—"मैं जब राजनीति की ओर ध्यान देता हूं तो लगता है क्रिकेट खेला जा रहा है, और जब क्रिकेट की ओर नजर डालता हूं, तो महसूस होता है कि राजनीति चल रही है।" पतित राजनीति के दुष्परिणाम को देखिये, घोंघी कैसी लाजवाब पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं—"संस्था या स्थितिपरक श्रद्धांजलियों की भी आज उतनी ही

आवश्यकता है। कोई बड़ा अधिकारी घूस लेते हुए पकड़ा जाये, तो आप उसे श्रद्धांजलि दीजिये'''नसबन्दी के बाद किसी के घर बच्चा पैदा हो जाये तो आप स्वास्थ्यमंत्री को श्रद्धांजलि दीजिए।" आज के असम्पृक्त जीवियों के मनोरंजन फिल्म और क्रिकेट पर दोनों ही व्यंग्यकारों ने खासी चुटकियां ली हैं। दोनों की ही स्थापना है कि देश के जिम्मेदार तबके का राष्ट्रीय धर्म बेशरमी है। आदमी आदरणीय श्रम, चरित्र, ज्ञान से नहीं टिकट और वोट से बनता है। पूरा देश आज एक बड़ा प्रश्नचिह्न बना हुआ है। जातिवाद, दलवाद, अनास्था, निष्क्रियता, छल-छद्म, अभाव-गरीबी, मिलावटखोरी, रिश्वतबाजी जैसी आज की विडम्बनाएं, विद्रूपताएं दोनों के ही लेखन में से बखूबी प्रतिबिम्बित हैं।

दोनों ने ही सहज एवं सरल शैली का अनुसरण किया है। 'जूता' या 'बेशरम' जैसी इक्का-दुक्का रचनाओं में ही लेखक ध्वन्यात्मकता पर अधिक बल देते दिखाई देते हैं। कहीं भी शब्दों या स्थितियों के साथ खिलवाड़ नहीं है। क्रिकेट में लतीफ घोंघी कुछ द्वयअर्थ पर आ गये हैं, पर अन्यत्र इस तरह की मंच प्रदूषित बात नहीं है।

लतीफ घोंघी का मैं कुछ तीखा समीक्षक रहा हूं, पर लतीफ घोंघी ही मुझे एक ऐसे व्यंग्यकार मिले, जिन्होंने मेरे ऐसे तीखेपन से भी परस्पर के सम्बन्धों में कहीं तीखापन नहीं आने दिया। डॉ० कृष्ण कमलेश ने उनके सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है, कि लतीफ घोंघी कुछ अतिशय विनम्र ही हैं।

ईश्वर शर्मा को मेरी शुभकामनाएं।

इतवारी अमृत संदेश को बधाई जिसने व्यंग्य-लेखन को जुगलबन्दी मंच द्वारा एक नयी दिशा दी। आज सशक्त और स्तरीय व्यंग्य कम ही दीख पड़ता है। प्रायः सशक्त होता है तो स्तरीय नहीं और स्तरीय होता है तो सशक्त नहीं। अच्छी-अच्छी पत्रिकाओं, विशेषांकों में भी नहीं। इतवारी अमृत संदेश ने इस दृष्टि से सचमुच ही एक बड़ा भला काम किया है।

एक कस्बे की खामोश जुगलबन्दी

के० पी० सक्सेना

व आप इसे मेरा अल्पज्ञान या छुटभइयापन ही कह लीजिए। मैं अभी तक ही समझता था कि यह सुसरी जुगलवन्दी जो है, वह सिर्फ संगीत में ही ोती है। जुगलवन्दी, मतलव दो आदमियों द्वारा मिलकर हजारों आदमियों ो वोर करने की साजिश। मैंने वहुत सी जुगलवन्दियां सुनी हैं··· टेप पर, डस्क रेकार्डों पर, मंचों पर। दूसरों की देखा-देखी मैंने भी सिर हिलाया , तालियां वजाई हैं। विस्मिल्ला साहव की शहनाई और वी० जी० नोग ः वायलन की जुगलवन्दी न मेरी समझ में आई न दूसरों की। 'वाह-वाह' ाव्रने की है। अच्छे संगीत और अच्छी कविता की यही पहचान है कि ामझते खाक नहीं, वस हाय-हाय करते रहो। मेरी समझ में आज तक ाह नहीं आया कि जव भगवान ने दोनों को अपने-अपने पैसों से खरीदे हुए ाज दिए हैं, तो अपनी-अपनी अलग-अलग क्यों नहीं वजाते ? एक ही धुन को ज्वाइंटली वजाने की क्या जरूरत है ?

अभी मैं संगीत की जुगलवन्दी भी न समझ पाया था कि साहित्य में भी आ गई। 'अमृत सन्देश' में हफ्ते-हफ्ते व्यंग्य की जुगलवन्दी आने लगी। यह अखवार अगर मेरे लखनऊ में आता होता, तो मैं इसका सेल वैन करा देता। लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा की ही वजती रही तो मेरा मजीरा कौन सुनेगा ? यह सव हरकतें आज की साहित्य परम्परा के खिलाफ हैं। उखाड़-पछाड़ के इस युग में जव एक रचनाकार दूसरे रचनाकार का तवला फाड़ डालने पर कटिवद्ध है, जुगलवन्दी कैसे चल सकती है ? यह कोई नई कांग्रेस है क्या कि प्रणव मुकर्जी और गुण्डुराव अपनी जुगलवन्दी से इन्दिरा वफादारी का कसीदा वजा रहे हैं ? साहित्य में यह सव नहीं चलेगा।

मेरा ख्याल है कि साहित्य के अखाड़ेबाज मेरे इस वक्तव्य से खुश हो गये होंगे। मगर जहां तक मन की बात है, मुझे यह जुगलबन्दी प्रयोग बहुत प्यारा लगा। काश कोई होता जो मेरे साथ भी उतना ही बेसुरा बजाने को तैयार हो जाता, जितना मैं बजाता हूं। लतीफ और ईश्वर की साप्ताहिक जुगलबन्दी से एक बहुत बड़ा सुख यह मिला कि अगर कहीं एक ने बोर किया तो दूसरे ने संभाल लिया। अच्छे व्यंग्य का निर्वाह हो गया। उससे अच्छा है कि एक अखबार में एक ही आदमी प्रतिदिन लिखता रहे और एक ही ढपली पर हम वाह-वाह करते रहें। मैं सच्चे मन से कह रहा हूं कि 'अमृत संदेश' की इस लक्ष्मीकान्त-प्यारेलाल टीम को मेरी बधाई।

कितनी ही रचनाएं इस जुगलबन्दी टीम की मैंने पढ़ीं। मसलन 'जूता', 'श्रद्धांजलि', 'सम्भावना', 'अस्पताल', 'आश्वासन' वगैरा-वगैरा। ये वगैरा-वगैरा भी मैंने पढ़ी हैं। यों ही नहीं लिख रहा हूं। एक ही शब्द को लेकर दो अलग-अलग मनःस्थितियों में व्यंग्य का निर्वाह कैसे होता है, यह एक अनूठा प्रयोग है। व्यंग्य के इस जवाबी कीर्तन ने कहीं-कहीं तो मन खूब बांधा है। लतीफ तो पुराना बजाने वाला है, पर ईश्वर ने भी हर बार साज बेसुरा नहीं होने दिया है। यह मामूली बात नहीं है। व्यंग्य में एक ही धरा-तल पर सोचना बहुत कठिन बात है। अब अगर लोग यह कहें कि लतीफ घोंघी को क्या हो गया है···यह ईश्वर क्या लिख रहा है, सो लोगों ने ईसा और सुकरात को नहीं बख्शा···ये दोनों किस बगिया की शलजम हैं। अपन तो यह कहते हैं कि हफ्ते भर के अल्पकाल में कोई दो लोग एक ही विषय पर सही सुर-ताल में सोचकर दिखा दें; यही बहुत बड़ी उपलब्धि है व्यंग्य के लिए। खेमों में बंटी व्यंग्यबाजी के इस युग में दो लोग एक कस्बे में, एक ही पेड़ की छांव तले बैठे लिख रहे हैं···यह मामूली बात है क्या? इन्हें भी चाह हो सकती थी कि अपने-अपने साजों का अकेला स्वर ऊंचा करके अपना पुरस्कार झटक लें। मगर नहीं, एक ट्यूनिंग जो साथ-साथ चल रही है, एक मंझोले अखबार में···मुझे बस दुख है तो सिर्फ इतना कि, व्यंग्य की यह जुगलबन्दी छत्तीसगढ़ के एक छोटे से क्षेत्र में ही कैद क्यों है? एक पुस्तक का विस्तार लेकर बाहर क्यों नहीं गूंजती? सच है कि कस्बों में बैठकर

ईमानदारी से लिखने वालों की अपनी मजबूरी होती है। सिर्फ लिखने की और चर्चित न होने की। ठीक वैसे ही जैसे महानगरों की अपनी चाह होती है न लिखने की···सिर्फ चर्चित होने की। जुगलबन्दी के इस प्रयास को मेरा प्रणाम और लगातार बजते रहने की शुभकामना।

—के० पी० सक्सेना

आदरणीय

लतीफ घोंघी

जो महत्त्व पटवारी रिकार्ड में खसरा पांचसाला का होता है, वही महत्त्व अपने देश में आदरणीय पांचसाला का होता है। यह पांचसाला वाला आदरणीय जो होता है, वह झटके में आदरणीय हो जाता है। मार्केट में भले पांच पैसे की उधारी लोग न दें, लेकिन उसे पांच साल का पट्टा मिला नहीं कि लोग कहने लगते हैं—पूरी तरह दूकान आपकी है। जितना चाहे ले जाइये। बस कृपादृष्टि बनाये रखना।

अपने इधर के लोगों में आदर की यही भावना तो अच्छी है। चुनाव के पहले भले ही पचास गालियां दे लेते हों, लेकिन परिणाम निकला नहीं कि आदर में इतना झुक जाते हैं कि हमें भी शक होने लगता है कि—"साले ऊपर उठेंगे कि जिन्दगी भर झुके ही रह जाएंगे।" इतना आदर देने वाले लोग किसी और देश में नहीं मिलेंगे आपको, यह हमारा दावा है। आपको विश्वास न हो तो हमारे विधानसभा क्षेत्र में आकर देख लो। चुनाव परिणाम निकले आज तीन साल से ऊपर हो रहा है लेकिन वे अपने जनप्रतिनिधि के आदर में झुके हैं सो झुके ही हुए हैं। कोई उनसे कहता है—भइया, अब तो ऊपर उठ जाओ··· हो गया बहुत आदर-सत्कार··· उस आदमी को इतना आदर दोगे तो एक दिन हकबका के मर जाएगा।"

अपने देश की इसी महान परम्परा के कारण अपने देश में बहुत आदरणीय पाये जाते हैं। यह शब्द किसी के आगे एक धक्के में लग जाता है और किसी को उम्र भर घिसने के बाद भी नसीब नहीं होता। उन लोगों की पीड़ा लेखक होने के नाते मैं जानता हूं। मैं एक ऐसे ही दुखी आदमी को जानता हूं। घर में खुदा का दिया हुआ सब कुछ है। बाल हैं, बच्चे हैं।

छ: चक्के वाले हैं। मौका मिलता है तो दो-चार लोगों की सेवा भी कर देते हैं, लेकिन आदरणीय होने के लिए आज तक तरस रहे हैं। उनसे मिलने पर वे कहते हैं—संघर्ष कर रहा हूं मित्र···कर्म करो, फल की चिन्ता मत करो···अपन तो इसी सिद्धांत वाले हैं···आज नहीं कल बनेंगे आदरणीय··· किस्मत में लिखा होगा तो कोई नहीं रोक सकता···बस, मन में लगन है तो जी-जान से भिड़े हैं।

लेकिन मैं जानता हूं कि वे अपने आप को खुश करने के लिए ऐसा कहते हैं, और शायद इसलिए भी ऐसा कहते हों कि लोग यह न सोचने लगें कि वे आदरणीय होने के लिए मरे जा रहे हैं। अन्दर से कुछ भी हो, ऊपर से अपने यहां के लोगों के साथ ऐसी ही बातें करनी पड़ती हैं। यह वे भी जानते थे और लोग भी जानते थे। हम तो खैर जानते ही हैं। उनकी नस-नस पहचानते हैं। मौका मिल जाए और उन्हें इस बात का पूरा विश्वास हो जाए कि अगला उनको आदरणीय बना देगा, तो वे तुरन्त उसके पैरों में गिर पड़ेंगे और कहेंगे—तुम जब तक नहीं कहोगे मैं तुम्हारे पैर नहीं छोड़ूंगा···लगे तो दो लात मार दो···आज तुमने मेरी जिन्दगी की आखिरी इच्छा पूरी कर दी···कहो तो आज 'कुमार शू सेन्टर' जाकर अपने चमड़े का जूता तुम्हारे लिए सिलवाने का आर्डर दे दूं, बोलो? इस तरह चुप रहोगे तो मेरा आत्मविश्वास हिल जाएगा।

एक बहुत ही परसनल किस्सा बताता हूं आपको। हुआ ऐसा कि एक रात तीसरे पहर जब वे घर लौटे, तो खाट पर पड़ते ही उन्हें नींद आ गई। उधर चौथा पहर लगा नहीं कि उन्हें एक सपना आया कि एक सरपंच उन्हें बुलाकर गांव ले गया। वहां जाकर सरपंच ने बताया कि कुएं का उद्घाटन उन्हें अपने करकमलों से करना है। उन्होंने सपने में तुरन्त हाथ पोंछे ताकि कहीं गिरीस-विरीस लगा हो तो लोग शंका न करने लगें, कि उनके करकमल इस उद्घाटन के योग्य नहीं हैं।

कुएं के पास चावला किराया भंडार का पंडाल तना था। सामने मंच बना था जिस पर एक महाराजा कुर्सी रखी थी और चार सादी कुर्सियां थीं। यह वही कुर्सी थी जिस पर कई चिरंजीव और सौ० कां० बैठ चुकी थीं। इस बार वे इस महाराजा कुर्सी पर बैठकर उसका कल्याण करने आए

थे। सरपंच ने पहले पुष्पहार से उसका स्वागत किया तो उन्हें लगा कि खुशी के मारे वे कहीं चक्कर खाकर गिर न जाएं। उनका वश चलता तो वे इस आदर की भावना के लिए सरपंच के ही पैर पकड़ लेते। लेकिन उन्होंने विवेक से काम लिया और ऐसा नहीं किया।

सरपंच ने अपने उद्‌बोधन में कहा—किसान भाइयो और बहनो, हमारे लिए गौरव की बात है कि आज आदरणीय···

इसके बाद सरपंच रुक गये, गांव के कोटवार को पास बुलाकर धीरे से कान में पूछा—क्या नाम है इनका···जल्दी बता दे···कार्यक्रम लेट हो रहा है।
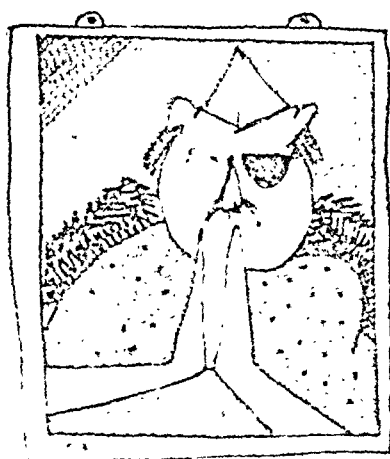
आदरणीय

कोटवार को वे कई बार चाय पिला चुके थे, इसलिए उनका नाम उसे याद था। कोटवार ने बताया तो वे 'आदरणीय' के बाद उनका नाम लेकर बोले—हमारे बीच हैं और वे इस कुएं का उद्‌घाटन करने आए हैं।

महाराजा कुर्सी पर बैठे वे अपने नाम के आगे आदरणीय सुनकर इतने गद्‌गद हो गये कि अब सरपंच यदि यह भी कह देता कि 'उद्‌घाटन करने के बदले इसी कुएं में कूद जाओ' तो वे सचमुच कूद जाते, लेकिन इसी बीच उनकी नींद खुल गई और उनका सपना टूट गया।

सुबह मुझसे चाय पीकर बोले—क्यों हो गुरु, एक बात तो बताओ। मैंने पूछा क्या? वे बोले—क्या चौथे पहर का सपना सच होता है?

एक लेखक होने के नाते उनकी छटपटाहट मैं समझता हूं। आप नहीं समझेंगे। कभी आदरणीय हुए हों तब समझें ना ?

इसे ही कहते हैं दाने-दाने पे लिखा है खाने वाले का नाम। कितना संघर्ष कर रहे हैं, लेकिन लोग हैं कि यह छोटा-सा शब्द उनके नाम के आगे नहीं लगा रहे हैं। यानी कि आदरणीय होने का दाना पांचसाला पट्टे वाला खा रहा है और वे जहां आज से पच्चीस साल पहले थे, वहीं के वहीं हैं। पैसा कमा लिया तो क्या, पैसे को चाटें ? पैसा तो गली वाली भी कमाती है।

उन्होंने दुबारा जब चौथे पहर के सपने वाली बात पूछी तो मैंने कहा—हां, हमारे बाप-दादा तो यही कहते आए थे···हो भी सकता है।

वे प्रसन्न हुए बोले—एक चाय और पियो।

उन्होंने छोकरे को बुलाकर कहा—जा रे···दो समोसे भी ला।

आदरणीय शब्द के पीछे महान शक्ति छिपी है इसका अहसास आज मुझे हो रहा था। मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि इन देशवासियों को क्या हो गया है। साले बना क्यों नहीं देते इस आदमी को आदरणीय ? सच कहता हूं, मेरे बस में होता तो मैं उसे तुरन्त बना देता और कहता—दादा, आज से मेरा खाना-पीना आपके यहां।

और मेरा विश्वास है कि वे मान भी जाते। इस रेट में क्या बुरा है। वे क्या कोई भी मान जाएगा।

दूसरी घटना यह हुई कि एक दिन कालेज के कुछ लड़के उनके पास आए। बोले—आपको क्रिकेट टूर्नामेंट का उद्घाटन करना है···आज सुबह दस बजे पहला मैच है।

उन्हें लगा कि हमारे पुराने बुजुर्ग बिल्कुल सच ही कहते थे। लो देखो, कल सपना देखा और आज सच हो गया। कुआं नहीं तो क्रिकेट ही सही। अपने को क्या फर्क पड़ता है। उन्होंने मन-ही-मन मुझे भी धन्यवाद दिया होगा। मैंने भी सोच लिया कि उधर उद्घाटन निपटाकर वे आएं और मैं समोसा खाने डट जाऊंगा। मैं जानता हूं कि वे यदि इस पावन वेला पर सौ-दो सौ रुपया चंदा भी मांगते, तो वे दे देते।

मैं तो सड़क पर आधा घंटे से मंडरा रहा था कि वे कब उद्घाटन निपटाकर आएं और मैं भी निपट लूं, लेकिन आदरणीय होने के बाद आदमी जल्दी किसी समारोह से खिसक नहीं सकता। स्वल्पाहार लेना पड़ता है। थोड़ा लोगों से मिलना-विलना पड़ता है, तभी तो पता चलता है कि कौन आदरणीय है और कौन स्वल्पाहार में जबरन ठसा है।

बड़ी देर बाद वे वापस लौटे। मुझे भी बहुत भूख लग रही थी। मैंने बधाई देते हुए पूछा—कैसा रहा कार्यक्रम ?

वे गुस्से में बोले—लड़कों के प्रोग्राम में जाना फालतू है···साले कुछ नहीं समझते।

मैंने फिर पूछा—लेकिन क्या हुआ ? कुछ बताइए तो सही।

वे बोले—क्या बताएं···सालों को नाम के आगे आदरणीय तक बोलना नहीं आता···उनसे तो गांव में अंगूठा छाप लोग अच्छे हैं।

मैं समझ गया कि कालेज में लड़कों ने मेरे समोसों पर संकट ला दिया है। मैंने सांत्वना देते हुए कहा—अब राजीव जी की नई शिक्षा नीति ला रहे हैं···दुबारा आपके साथ ऐसा नहीं होगा।

वे फिर गुस्से में बोले– दुबारा मौका आने तक हम बचेंगे इस देश में ?

वातावरण बहुत गंभीर हो गया था। मैं उनसे यह भी कहना चाहता था—दादा, किसी प्रकोष्ठ-व्रकोष्ठ में क्यों नहीं घुस जाते ? लेकिन मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा। एक-दो दिन बाद जब नार्मल हो जाएंगे तब मैं उन्हें यह सलाह दूंगा तो मेरा भी कुछ लाभ होगा।

मैंने कहा, "चलता हूं।" कहा तो भी वे कुछ नहीं बोले कि, 'फिर कब मिलोगे' तभी मैं समझ गया कि घाव बहुत गहरा है। मुझे लगा कि उनका भविष्य अंधकारमय हो ही जाएगा क्या ? मैं तो उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूं, लेकिन मेरे करने-न करने से क्या होता है।

कई दिनों तक उनसे इस बीच मुलाकात नही हुई। मुझे भी लगा कि वे जरूर किसी जुगाड़ में लगे हैं। एक दिन हुआ ऐसा कि मुझे पांचसाला आदरणीय के यहां जाना पड़ गया। काम आपको नहीं बताऊंगा···टॉप सीक्रेट है। कल के दिन आप हल्ला उड़ा देंगे तो मेरा तो कुछ नहीं

बिगड़ेगा, अगला बदनाम हो जाएगा।

वहां मैंने देखा कि वे पांचसाला आदरणीय के कान में धीरे-धीरे कुछ बोल रहे थे। उन्हें वहां देखकर मुझे लगा कि अब ये आदमी सही लाइन में आया है। जागरूक मतदाताओं के मुंह पर थूकता हुआ यह आदरणीय हो भी जाए, तो कुछ कहा नहीं जा सकता। वैसे भी प्रजातंत्र में कुछ कहना मुश्किल ही है। खुदा करे वह आदरणीय हो जाए तो कुछ लोगों के समोसे तो पक जाएं।

आदरणीय

ईश्वर शर्मा

चाकू आदरणीय होने का शार्ट-कट है।

हमारे मुहल्ले के एक युवक ने कल रात चौराहे पर एक आदमी को सरे आम चाकू मारा, और सुबह होते ही उसके पिता नगर भर के आदरणीय हो गए। इसे ही कहते हैं लाटरी खुलना और किस्मत का जोर मारना।

कल तक जिस व्यक्ति को कोई पास नहीं बिठाता था, दुआ-सलाम नहीं करता था, चाय-पान तो दूर पानी तक के लिए नहीं पूछता था, आज वही व्यक्ति अचानक आदरणीय हो गया। वह जिस रास्ते से गुजरता है, हर आदमी चाहता है वह उसकी ओर नजर भर देख ले, लोगों के हाथ प्रणाम करने के लिए पहले से उठ रहे हैं। लोग यही चाहते हैं कि वह कुछ देर दुकान पर बैठकर उन्हें अभयदान दे दें। थोड़ा बहुत जलपान ग्रहण कर उन्हें कृतार्थ करें।

यह केवल इस देश में ही संभव है। बल्कि इन दिनों तो यह आम बात हो गई है। कई व्यक्ति हैं जो इंजीनियर, डाक्टर या तकनीशियन बनना चाहते हैं। किसी तरह बन भी जाते हैं लेकिन गुमनामी के अंधेरे में खोए रहते हैं। आदरणीय नहीं बन पाते। जबकि दूसरी तरफ कुछ व्यक्ति जो कुछ नहीं करते, किसी को कुछ नहीं देते, रातोंरात आदरणीय हो जाते हैं।

ये अधेड़ सज्जन अर्थात् नवप्रतिष्ठित आदरणीय वर्षों से इस मुहल्ले में रह रहे हैं। सज्जन इसलिए कह रहा हूं क्योंकि उनकी दुर्जनता का कोई कारनामा अब तक प्रकाश में नहीं आया है, सिवाय इसके सज्जनता का कोई गुण उसमें नहीं है। इस देश का आम आदमी जिस तरह [illegible]

करता है, उसी तरह वे भी अपने सूती कुरते के नीचे फटी वनियान छुपाये रहते हैं। सुवह से काम पर निकलते हैं और रात गहराने तक लौटते हैं। इतने वर्षों से मुहल्ले में रहने के वाद भी अधिकांश लोग उनका नाम नहीं जान पाए हैं। वे ही सज्जन अचानक आज आदरणीय बन गये।

मुहल्ले के लोग किसी न किसी वहाने उनके घर की ओर से गुज़रकर उनसे वातचीत का अवसर ढूंढ़ते हैं। शहर के दूसरे मुहल्लों के लोग भी आकर उन्हें अपना चेहरा दिखाते हैं। इसके पहले चाकू चलाने के काम को मैं इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझता था, लेकिन एक ही बार में जिस तरह पूरा नगर उनके आगे-पीछे होने लगा है, उससे मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये हैं। ये मतलवपरस्त लोग जो विना स्वार्थ के अपने रिश्तेदारों तक से भी दुआ-सलाम नहीं करते, इस तरह मस्कावाजी में लगे हैं। यही देखकर मेरी समझ में आ गया कि चाकू की धार कितनी तेज थी।

इसीलिए मैं कहता हूं कि चाकू जो है वह आदरणीय होने का शार्टकट है। सारी उम्र मेहनत करने की आवश्यकता नहीं। वारह रुपये पचास पैसे का एक चाकू खरीद लीजिए और गाहे-ब-गाहे उसे चमकाते रहिए। एकाध अवसर आता है जब उसे चलाना जरूरी हो जाता है अन्यथा केवल दिखाने से ही काम चल जाता है। याद रखिए कि चाकू चलाते वक्त जितने अधिक लोग शौर्य प्रदर्शन देखने उपस्थित रहेंगे, उतनी ही तीव्रगति से प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी। कानून से डरने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि चाकू की चमक से लोगों की नजरें पहले ही चौंधिया कर बंद हो जाती हैं। आप यदि चाकू चलाने की हिम्मत नहीं रखते तो भी कोई खास फर्क नहीं पड़ता। इस पुनीत कार्य के लिए अपने लड़के, भाई या किसी को भी लाइन में लगा दीजिए। वस आप आदरणीय हो जाएंगे। चाकू चलानेवाला जितना करीवी रिश्तेदार होगा, आपको उतना ही अधिक आदर मिलेगा।

केवल चाकू चलाकर ही आदरणीय वना जा सकता है, ऐसी वात भी नहीं है, क्योंकि अपने देश में कई लोग वारह रुपये पचास पैसे भी खर्च करने के पक्ष में नहीं होते, इसलिए आदरणीय होने के और भी शार्टकट हैं, जिन रास्तों से मंजिल पर पहुंचा जा सकता है। घर में किसी को छात्र नेता या युवा नेता की लाइन में लगा दीजिए। बड़ा सम्मान होने लगता है। अधि-

कारी आप-से-आप विशेष अनुकम्पा करने लगते हैं। शांति समिति की बैठक हो या कोई सार्वजनिक आयोजन की गणमान्य बैठक, युवा नेता के पिता को विशेष आमंत्रित का दर्जा दिया जाता है। ऐसी बैठकों में उनके विचारों को भी गंभीरता से सुना जाता है। अव्यावहारिक विचारों पर भी सहमति दिखाई जाती है और उसे नया विचार दिये जाने का श्रेय दिया जाता है।

आदरणीय होने भर की देर है, फिर तो आदरणीय होने के समस्त लाभ आप-से-आप मिलने लगते हैं। किसी चीज के लिए लाइन में लगने की जरूरत नहीं है। किसी दूकानदार की हिम्मत नहीं होती कि आपको उधारी देने से मना कर सके और उधारी देने के बाद पैसे मांगने की जुर्रत कर सके। नगर के हर समारोह के लिए परमानेन्ट गण्यमान्य की लिस्ट में उनका नाम आ जाता है। किसी की हिम्मत नहीं कि नाम काट सके। शादी, पार्टियों के ऐसे-ऐसे निमंत्रण मिलने लगते हैं जिन्हें न तो आदरणीय जानते हैं और न ही आमंत्रित करने वाले आयोजक पहचानते हैं।

ऐसे ही एक समारोह में मैं शामिल था। आयोजक और आदरणीय एक-दूसरे को नहीं पहचानते थे। आदरणीय के अनाकर्षक व्यक्तित्व और सीधा घुसे चले आने की प्रक्रिया देखकर आयोजक ने उन्हें टोका—आप कौन हैं श्रीमान्? कैसे घुसे चले आ रहे हैं?

आदरणीय ने जवाब दिया— मैं फलाने का पिता हूं।

इस बाप-पिता का अकेला वाक्य इतना सारगर्भित था, इसका प्रत्यक्ष असर मुझे दिखाई दिया। आयोजक को लगा जैसे उसने जलता हुआ अंगारा पकड़ लिया हो। चेहरा फक पड़ गया। हाय, कितनी बड़ी भूल हो गई उनसे। इतने प्रभावशाली व्यक्ति को पहचान तक नहीं सके!

फिर विनम्रता और क्षमा-प्रार्थना का लम्बा दौर चला। आदरणीय तो अपने स्थान पर संतुष्ट हो चुके थे लेकिन आयोजक महोदय को तसल्ली नहीं हो रही थी। कोई पालतू कुत्ता जब बहुत दिनों बाद अपने मालिक से मिलता है और जिस तरह उसके कदमों में लोटता है, कुछ इसी तरह का अभिनय कर रहे थे।

मैंने सोचा—फलाने के बाप के परिचय में तो यह हाल है

फलाना होता तो शायद समस्त छिद्रों से एक साथ हवा सरक जाती।

आदरणीय होने के और भी कई नायाब नुस्खे हैं। नगर का एक राशन दूकानदार है जिसके पास राशन का कोटा कभी उपलब्ध नहीं रहता, लेकिन बाजार से गुम हो जाने वाली हर वस्तु हमेशा मौजूद रहती है। वह अपने किस्म का एक अलग आदरणीय है। नागरिक उसकी बड़ी इज्जत करते हैं। जब-जब नगर पर संकट आता है, तब-तब इसी इकलौते संकट-मोचन में लोगों को कई अवतारों के रूप दिखाई पड़ते हैं। इसी आदरणीय की बगल में एक और दूकानदार है जो निर्धारित कोटा नियमित ढंग से निर्धारित मूल्य पर बांट देते हैं। लेकिन चूंकि शार्टेज के पीरियड में वे लोगों की इच्छानुसार पूर्ति नहीं कर पाते, इसलिए गाली खाते हैं और उनके कोटे में इसी तरह का आदर होता है। दूसरी ओर संकटमोचन को लोग इज्जत की नजरों से देखते हैं। भारत जैसे महान देश में ऐसे लोगों की आवश्यकता पड़ती ही रहती है। व्यवहार पहले से बना रहे तो अच्छा है। ऐन वक्त पर तकलीफ नहीं होती।

अपना अनुभव तो यह है कि जो व्यक्ति जितना अधिक ब्लैक का धंधा करता है, वह उतना ही अधिक आदरणीय होता है। लोग उतनी ही अन्तरंगता से उसके साथ जुड़ते हैं।

वैसे तो नेतागीरी करके भी आदरणीय हुआ जा सकता है, लेकिन अच्छा आदरणीय बनने के लिए अच्छे नेता का चमचा बनना पड़ता है। इसमें आजकल कम्पटीशन बढ़ गया है। नेता लोग भी होशियार हो गये हैं। चमचा तो बना लेते हैं, लेकिन ऊपर एक और बड़ा चमचा बिठा देते हैं। ऐसे में कौन आदर देता है भला? हां, अंधे के हाथ बटेर के अनुसार विधानसभा या संसद का लग्गा लग गया तो फिर पौबारह है। बारह क्यों बारह पचास है। लेकिन यह आदर का छींका हर भारतीय बिल्ली के भाग्य में नहीं होता, इसलिए इस पर विश्वास करके ज्यादा दिनों तक नहीं बैठा जा सकता। आदरणीय होने के लिए स्थानीय नुस्खों पर ही भरोसा करना अच्छा है।

देख लीजिए, आपके परिवार में चाकू किसके हाथों में जंचता है, यह तो आपको ही तय करना है।

फायर-ब्रिगेड

ईश्वर शर्मा

बड़ी प्रतीक्षा के बाद आखिर शहर की नगरपालिका में फायर-ब्रिगेड आ ही गया। पालिकाध्यक्ष ने शहर में मुनादी करवा दी कि—"अब लोग निश्चित होकर घरों में आग लगा सकते हैं।" मुनादी में स्पष्ट कर दिया गया था कि घरों में योजनाबद्ध ढंग से आजकल जिन्हें जलाया जाता है, उनके लिए फायर-ब्रिगेड नहीं भेजा जाएगा।

नगर की अपेक्षाओं को देखते हुए फायर-ब्रिगेड की नितांत आवश्यकता थी। बार-बार दूसरे शहर से अपनी आग के लिए फायर-ब्रिगेड बुलाना लोगों को असंस्कारिक और अव्यावहारिक लगता था। अपनी आत्मनिर्भरता पर पूरे नगर में खुशी मनाई गई। लोग खुश थे कि अब शादी-ब्याह के मौकों पर पानी के छिड़काव के लिए सुविधा हो जाएगी।

अब इसे संयोग ही मानना चाहिए कि इधर फायर-ब्रिगेड का आना हुआ, और उधर नगर में आग लगना ही बन्द हो गई। जिस चीज की उपलब्धता होती है उसका उपयोग ही नहीं निकलता है। दो लाख रुपयों की गाड़ी आई है, आग ही नहीं लगेगी तो इसका क्या अचार डालेंगे! अध्यक्ष परेशान हैं। इतने दिन हो गए और फायर-ब्रिगेड का उद्घाटन ही नहीं हुआ।

नगरपालिका हसरत भरी नजरों से आग लगने का रास्ता देख रही है। पूरी तैयारी किए बैठी है। टंकी में पानी भरा है। कर्मचारी ड्रेस पहनकर ड्यूटी पर तैनात खड़े हैं। पहले से टंकी में पाइप लगाकर रखा गया है मतलब यह कि इधर आग लगने की खबर मिली नहीं कि फव्वारा यहीं चालू।

लेकिन वाह रे कृतघ्न नगर ! बचाव का इतना बढ़िया इंतजाम, फिर भी आग नहीं ? इतनी अच्छी व्यवस्था होने पर तो लोग शादी तक करने को तैयार हो जाते हैं। यहां तो छोटी-सी आग भी नहीं लग रही है।

अध्यक्ष की परेशानी वाजिब है। उनका कार्यकाल कुछ महीनों में ही समाप्त होने वाला है। वे यह कैसे गवारा कर सकते हैं कि फायर-ब्रिगेड वे लाएं और आग कोई दूसरा बुझाए। फायर-ब्रिगेड वे लाए हैं तो आग भी उनके कार्यकाल में ही लगेगी, और बुझाएंगे भी वे ही। यही कारण है कि वे फायर-ब्रिगेड का उद्घाटन करने के लिए छटापटा रहे हैं, बेचैन हैं।

उन्होंने नगरपालिका के सभी कर्मचारियों को सूचना दे रखी है कि आगजनी की सूचना मिलते ही फायर-ब्रिगेड लेकर न दौड़ें, पहले उन्हें सूचना दें, वे आकर फायर-ब्रिगेड का विधिवत उद्घाटन करेंगे, इसके बाद ही आग बुझेगी।

उद्घाटन की इच्छा से उनकी नींद हराम हो गई है। आधी रात को सोते से उठकर बैठ जाते हैं। सीधे नगरपालिका को रिंग करते हैं—हल्लो··· कहीं से कोई शुभ सूचना आई ?

दूसरी ओर से इन्कार किए जाने पर उदास हो जाते हैं। हिदायत देते हैं—देखो, बीच-बीच में टाउन का राउंड लगाकर देखते रहना···कोई छोटी-मोटी आग भी लगी हो तो तत्काल मुझे खबर करना···हो सकता है लोग छोटी आग में फायर-ब्रिगेड बुलाना पसंद न करें और बाल्टियों से ही आग बुझाने लग जाएं···हां जी···उन्हें समझा देना—फायर-ब्रिगेड का हक न मारें, तुम लोग जरा सतर्क रहना और बराबर घूमते रहना।

वे सुबह सोकर उठते हैं तो नगरपालिका अधिकारी को फोन करते हैं—क्या हो गया है नगर में ? आज रात भी कुछ नहीं हुआ। तुम्हारे रहते भी कहीं कोई आग नहीं लग रही है···कैसे अधिकारी हो ? क्या किसी की फाइल अड़ाने लायक नहीं है ? आग लगाकर उद्घाटन का मौका न दें तब तक अड़ा दो किसी की फाइल। कैसे अधिकारी हो···इतना भी नहीं कर सकते ? हम इतनी व्यक्तिगत रुचि लेकर फायर-ब्रिगेड लाए हैं और कोई उद्घाटन का मौका देने को भी तैयार नहीं है ? सब मतलबी हो गए हैं, थोड़ा जिम्मेदारी से प्रयास करो, आग तो लगनी ही चाहिए।

वैसे शहर के लोग भी बड़े उत्सुक हैं आग के लिए। वे भयंकर आग और फायर-ब्रिगेड के फव्वारे का दिलचस्प नजारा देखने की लालसा लिए बैठे हैं। जब भी अध्यक्ष से मिलते हैं, पूछते हैं—किस अशुभ घड़ी में ले आए हो इस फायर-ब्रिगेड को'''आग लगनी ही बन्द हो गई है।

लम्बे इन्तजार के बाद आखिर वह शुभ दिन आ ही पहुंचा। वैसे भी उसे आना ही था। वे सब तो फिजूल में चिंतित हुए जा रहे थे। जब थाना खुला है, तो अपराध तो होंगे ही। अस्पताल की सुविधा हो गई है तो लोगों को बीमार पड़ना ही होगा। नहीं तो ये खाली बैठे क्या मक्खियां मारेंगे? फायर-ब्रिगेड के आने से आग लगने की संभावना तो बढ़ ही गई थी। यह बात अलग है कि जरा देर से लगी।

आग लगने की खुशखबरी अध्यक्ष तक शीघ्र ही पहुंचाई गई। अध्यक्ष ने तत्काल मिष्टान्न-वितरण का आदेश दिया। साथ ही कुछ तगड़े कर्मचारियों को शीघ्र ही घटनास्थल पर भेजने का निर्देश दिया ताकि फायर-ब्रिगेड के पहुंचने तक किसी भी हालत में आग बुझने न पाए। इसके लिए लोगों को निजी साधनों से आग बुझाने के निर्देश भी अध्यक्ष ने जारी कर दिए। आग यदि किसी छोटी जगह में लगी हो और जल्दी बुझ जाने की संभावना हो तो किसी भी तरह आग का फैलाव किया जाए। अध्यक्ष ने फोटोग्राफर और पत्रकारों को भी तत्काल घटनास्थल पर बुलाए जाने का निर्देश दिया।

इतनी सब हिदायतें एक साथ देकर उन्होंने आनन-फानन कुरता-पाजामा पहना और नगरपालिका जाने के लिए निकले। वहां पहुंचकर फायर-ब्रिगेड की पूजा की, नारियल फोड़ा, प्रसाद चढ़ाया, फिर बड़ी शालीनता के साथ स्टेयरिंग पर सवार हुए और शाही बग्घी की शान से टनटनाता हुआ फायर-ब्रिगेड घटनास्थल की ओर रवाना हुआ।

अब उधर आग का हाल देखिए।

आग भी लगी थी और लोग भी काफी इकट्ठा हो गए थे। केवल पांच-सात लोग ही आग बुझाने में लगे थे। वही चिन्तित भी लग रहे थे। बाकी लोग निश्चित खड़े श्रद्धाभाव से अग्निदेव के विराट स्वरूप का दर्शन कर रहे थे। साथ ही अधीरता से फायर-ब्रिगेड के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे

थे। एक सज्जन जो शायद कहीं बाहर से आए थे, दूसरे से पूछ रहे थे—लोग खड़े क्यों हैं? आग बुझाते क्यों नहीं हैं?

दूसरे सज्जन ने जवाब दिया—अब नगरपालिका में फायर-ब्रिगेड आ गया है, वह आकर बुझाएगा। अब हमें मेहनत करने की जरूरत नहीं है। हम सब उसी की राह देख रहे हैं।

एक अधेड़ सज्जन थोड़ा हटकर खड़े बड़ी निश्चितता से तम्बाकू मल रहे थे और अपने इर्द-गिर्द खड़े लोगों को अपना अनुभव सुना रहे थे—देख लेना, ये आग रुक नहीं सकती, उस आखिरी दुकान तक जाएगी, ऐसी आग को बुझाने की मेहनत करना ही बेकार है। दो साल पहले उस चौक में आग लगी थी…मैं वहां भी मौजूद था। पूरी लाइन साफ हो गई थी। मैंने तो इतनी बड़ी-बड़ी आग देखी है कि उसके सामने यह आग कुछ भी नहीं है।

यह कहते हुए उन्होंने मली हुई तम्बाकू निचले होंठ में दबाई और पाजामे से हाथ पोंछते हुए अपना अनुभव सुनाने दूसरे झुंड की ओर चल पड़े।

वे अपना अनुभव नहीं सुनाते, तो भी नगर के लोग उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। उनकी लगाई आग का बुझना बड़ा मुश्किल होता है। वे आग लगने के पहले ही पहुंच जाते हैं और पूरा जल जाने के बाद ही जाते हैं।

जिनका काम केवल डायरेक्शन देना होता है ऐसे दो-चार डायरेक्टर भीड़ में शामिल थे। जरा इधर से पानी डालो, उधर से पानी डालो…जरा तेजी से पानी डालो…थोड़ा नजदीक जाकर फेंको। ऐसी ही चिल्लाहटें वे डायरेक्टर मचाए हुए थे। वैसे न तो कोई उनका डायरेक्शन मान रहा था, और न ही वे इसके लिए चिंतित थे। उनका मुख्य उद्देश्य था कि उपस्थित लोग उनकी जिम्मेदारी देख लें, और इसमें वे सफल भी हो रहे थे।

जिनकी दुकानें जल रही थीं, वही दुकानदार आग बुझाने में लगे थे। बाकी लोग अपने-अपने ढंग से जिम्मेदारी निभा रहे थे। इस बीच नगर-पालिका के कर्मचारी भी वहां पहुंच गए। उन पांच-सात लोगों को आग बुझाते देखकर कर्मचारियों ने चिल्लाहट मचाई—रुक जाओ…आग बुझाने की कोशिश मत करना। फायर-ब्रिगेड आ रहा है। पहले उद्घाटन

होगा फिर आग बुझेगी।

लोगों में खुशी की लहर दौड़ गई। लोग उचक-उचककर फायर-ब्रिग्रेड के आने की राह देखने लगे। उधर आग लगने-लगाने के अनुभवी सज्जन ने पैराग्राफ बदल दिया और फायर-ब्रिगेड से सम्बन्धित संस्मरण सुनाने लगे। बीच-बीच में अपने अनुभव भी सुना देते थे।
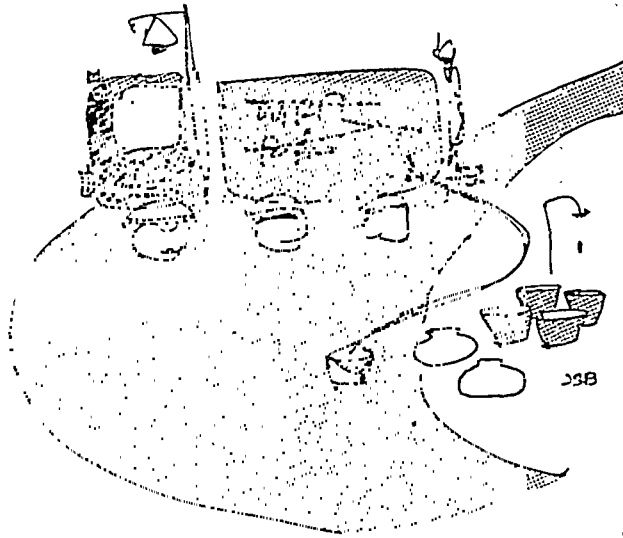
टनटनाता हुआ फायर-ब्रिगेड वहां पहुंचा। जनसमूह को देखकर अध्यक्ष फायर-ब्रिगेड की छत पर खड़े हो गये और अपना उद्घाटन भाषण प्रारम्भ किया—

भाइयो और बहनो! बड़ी प्रसन्नता की बात है कि लम्बी प्रतीक्षा के बाद आज आग लगी है और मुझे फायर-ब्रिगेड का शुभारम्भ करते हुए खुशी हो रही है। आपके इस सहयोग और शुभकामना के लिए सबसे पहले मैं आप सबका आभार मानता हूं।

फायर-ब्रिगेड के आते ही हम सबकी विशेष इच्छा थी कि शीघ्र ही आग लगे और हमें इसकी कार्यक्षमता देखने का अवसर प्राप्त हो। जैसा कि आप सब जानते हैं, फायर-ब्रिगेड का सीधा सम्बन्ध आग से है...इसका कोई दूसरा उपयोग नहीं है। आज मैं इस फायर-ब्रिगेड का उद्घाटन इस कामना के साथ कर रहा हूं कि नगर में बराबर आग लगती रहे जिससे

फायर-ब्रिगेड को भरपूर कार्य मिले और इसकी उपयोगिता वनी रहे।

इधर अध्यक्ष महोदय का भाषण चल रहा था और उधर जलती आग के चारों तरफ घेरा डाले लोग तालियां वजा रहे थे।

वहीं किनारे पर खड़े एक वुजुर्ग ने मुझसे कहा—इस देश में हर कोई अपनी-अपनी क्षमता का फायर-ब्रिगेड खरीदकर आग लगने की राह देख रहा है। अस्त्र वनाये ही इसलिए जाते हैं कि उनका उपयोग हो। जो वन्दूक लेकर चलते हैं, वे सीना और लाठी लेकर चलने वाले सिर ढूंढ़ ही लेते हैं। कुछ लोग भूख लेकर चलते हैं, वे पेट तलाशते हैं। पद लेकर चलने वाले वेरोजगारी और अनाज लेकर चलने वाले सूखे की तलाश करते रहते हैं। जो ईमानदारी खरीद लाये हैं, वे चाहते हैं कि पहले लोग वेईमान वन जाएं, फिर उन पर ईमानदारी थोपें। समाज सेवा का मुखौटा चढ़ाए लोग सोचते हैं कि विकलांग और असहाय जितने वढ़ जाएं, अच्छा है। मतलव यह कि हर कोई अपने अधिकार, कला और हुनर का प्रदर्शन करना चाहता है। लेकिन इसके पहले दुर्गति की चरम स्थिति देखने की इच्छा रखता है।

मैं कानों से वुजुर्ग की वातें सुन रहा था और आंखों से आग वुझाने का मनोरम दृश्य देख रहा था। लोग उत्साह से आग लगने का जश्न मना रहे थे।

दूसरे दिन अखवार में आग के समाचार के साथ एक फोटो छपी थी जिसमें फायर-ब्रिगेड पर खड़े अध्यक्ष भाषण दे रहे थे और आग के चारों ओर घेरा डाले लोग तालियां वजा रहे थे।

फायर-ब्रिगेड

लतीफ घोंघी

हम लोग दादा उस महापुरुष को कहते हैं, जो हमारी नगरपालिका के अध्यक्ष हैं वैसे तो कई आए और चले गए, लेकिन दादा जो हैं वे नगर-पालिका में रम गए हैं। बड़े भक्तिभाव से नगरपालिका का हर काम करते हैं। कभी-कभी तो आप खुद भी नहीं पहचान पाएंगे कि दादा कौन हैं और नगरपालिका कौन है। हम तो यही कहते हैं कि यदि आपको हमारी नगर-पालिका देखना हो तो दादा को देख लो। पानी की टंकी देखना है तो दादा को देख लो और 'नगरपालिका स्वागत करती है' का बोर्ड देखना है तो दादा को देख लो। कुछ और देखने की जरूरत नहीं। बाजार में पैदल चलते हैं तो लगता है जैसे प्रदेश प्रशासन की नगरपालिका चल रही है। बात भी वे नगरपालिका स्तर की ही करते हैं।

एक दिन हमसे बोले—यार, यहां के पत्रकार ठंडे पड़े हैं क्या? मैंने पूछा क्यों? तो वे बोले—नगरपालिका में दो लाख का फायर-ब्रिगेड मैंने मंगवा दिया और कोई न्यूज नहीं आ रही है। विज्ञापन लेना होता है तो दौड़ के आते हैं···साला हाथी जैसा फायर-ब्रिगेड नगरपालिका में खड़ा है और इनको कुछ दिख ही नहीं रहा है।

मैंने सलाह दी—दादा, मेरी मानो तो इसी बहाने एक पत्रकार वार्ता बुला लो।

वे बोले—यह क्या होती है?

मैंने समझाया कि पत्रकार वार्ता बुलाने पर हर अखबार का संवाद-दाता आएगा और आप जो जानकारी देना चाहते हैं वह आपसे लेगा। फिर कुछ सवाल करेगा और अखबार में छाप देगा।

वे बोले—फिर ?

मैंने कहा—फिर क्या···बस चाय-पानी और नाश्ते का इंतजाम करना पड़ेगा आपको पत्रकारों के लिए···अच्छा खिला-पिला दोगे तो न्यूज भी अच्छी तरह फ्लैश हो जाएगी।

वे ठहाका लगाकर बोले—अरे···इसी को कहते हैं पत्रकार वार्ता··· मैं तो कुछ और ही समझा था। बुला लो भई, खिला देंगे पत्रकारों को भी। नगरपालिका में इतने लोग खा रहे हैं तो बेचारे वे भी निपट जाएंगे नगर-पालिका स्तर की मिठाई पर···और हम भी देख लेंगे पत्रकार वार्ता।

दूसरे दिन सभी पत्रकारों को पत्रकार वार्ता के लिए दादा ने आमंत्रित कर लिया। बैठक सजाई गई। नगरपालिका का हॉल खाली करवाकर उसमें कुर्सियां लगवाई गई। सामने की कुर्सी अच्छी थी। शेष कुर्सियां विकलांग थीं। दादा मुंह में डबल मीठा पान भरे हुए आए। आज चाल उनकी अच्छी थी। लगता था जैसे कोई फायर-ब्रिगेड आग बुझाने के लिए मंथर गति से नगर की सड़क पर आगे बढ़ रहा है।

पार्षद शर्मा जी को एक कोने में ले जाकर दादा ने कहा—यार, तुम सम्हाल लेना···पता नहीं मुझसे जमेगा कि नहीं।

शर्मा जी ने उन्हें हौसला दिलाया—सब जमेगा दादा···बस आप तो बेधड़क होकर बोलते भर जाना···पत्रकार आपको घुमाने की कोशिश करेंगे लेकिन आप तो बस अपनी बात पर अड़े रहना कि नगर के विकास के लिए इससे बड़ी और कोई मशीन मिल ही नहीं सकती।

दादा सामने की कुर्सी पर जम गए। बोले—कहिए···आप लोगों को क्या कहना है ?

मैंने कहा—पत्रकार वार्ता तो आपने बुलाई है। आपको जो कहना हो कहिए।

वे बोले—क्या कहें···ये जो सामने इतनी बड़ी फायर-ब्रिगेड की गाड़ी खड़ी है वह आप लोगों को दिखाई नहीं देती क्या ?

एक पत्रकार ने कहा—दिखती है।

दादा बोले—दिखती है तो और क्या कहना बाकी है···बस समझ लो आगे···आप सब लोग तो समझदार हो। आप लोगों को कुछ पूछना है तो

पूछो। हम बताएंगे। हम भी जानते हैं पत्रकार वार्ता क्या होती है! हां।

—पहले यह बताइए कि आपने फायर-ब्रिगेड क्यों मंगवाया है?

—लो देखो···यह भी कोई पूछने की बात है···हम तो समझते रहे कि पत्रकार बहुत होशियार होते हैं···भई इतना नहीं जानते कि आग बुझाने के लिए मंगवाया गया है और क्या?

—हमारा मतलब है कि अपने यहां तो आग लगती ही नहीं फिर इस फिजूल खर्च की क्या आवश्यकता थी?

अब दादा समझ गए कि पत्रकार उन्हें घेर रहे हैं। वे सतर्क हो गए। बहुत गंभीरता से विचार करने लगे कि क्या जवाब दिया जाए। उन्होंने शर्मा जी की ओर 'तुम जरा सम्हालो यार' वाली मुद्रा से देखा। शर्मा जी भारत के नक्शे की ओर देख रहे थे। दादा तुरन्त समझ गए कि क्या कहना है। पूरी ताकत से बोले—पूरे देश में आग लगी है···पंजाब जल रहा है···बंगाल में धुआं उठ रहा है और आप इसे फिजूलखर्ची कहते हैं? मैं कहता हूं बिल्कुल ठीक है। दो लाख रुपया लगा तो लगा, आग बुझाने की मशीन तो आ गई···और पूछो?

—हमारा मतलब यह नहीं था। हम अपने नगर की बात कर रहे हैं। आप बताइए कि जब यहां कई सालों से कोई आग नहीं लगी तो फायर-ब्रिगेड खरीदने की क्या जरूरत थी?

दादा ने शर्मा की ओर देखा। शर्मा जी ने फिर भारत के नक्शे की ओर देखा और दादा समझ गए कि क्या जवाब देना है। बोले—हम दिल्ली वाले हैं···उधर आग लगी इसका मतलब है इधर भी लगेगी···आज नहीं तो कल लगेगी···फिर क्या करोगे बोलो? हमने जो किया है, ठीक किया है। हम इसी बात पर अड़े रहेंगे। और पूछो?

—दिल्ली की आग का इस नगर से क्या लेना-देना?

—लेना-देना कैसे नहीं है···दिल्ली भइया है तो लेना-देना पड़ेगा ही···लेना-देना कैसे नहीं रहेगा···नगर की इज्जत का सवाल है। और पूछो?

—अच्छा मान लीजिए दिल्ली में आग लग गई। अब बताइये यहां कैसे आएगी?

दादा समझ गए कि पत्रकार फिर उन्हें घेरने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने शर्मा जी की तरफ देखा। शर्मा जी भारत के नक्शे की तरफ देख रहे थे। दादा तुरन्त समझ गए कि पत्रकारों द्वारा पूछे गए प्रश्न का क्या उत्तर देना है। बोले—काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है··· हमें एकता और अखंडता में विश्वास रखना है···और पूछो?

—फायर-ब्रिगेड के साथ एकता और अखंडता कैसे आ गई?

—अजीब सवाल करते हो यार···अरे जब एकता और अखंडता है तो उसे आना ही पड़ेगा···आएगी कैसे नहीं। और पूछो?

—फायर-ब्रिगेड की मशीन खरीदने की प्रेरणा आपको किससे मिली?

दादा ने फिर शर्मा जी की तरफ देखा। शर्मा जी ने भारत के नक्शे की ओर देखा तो दादा तुरन्त समझ गए कि इस सवाल का क्या उत्तर देना है। बोले—हमारे प्रधानमंत्री राजीव जी से···और किससे मिलेगी! चलो, और पूछो?

—याने कि आप हर काम प्रधानमंत्री की प्रेरणा से ही करते हैं?

—बिल्कुल करते हैं जी। और पूछो?

—क्या आप बताएंगे कि यह प्रेरणा आपको किस प्रकार मिली?

इस बार दादा डगमगा गए। उन्हें याद आया कि शर्मा जी ने उन्हें समझाया था कि जब कोई बात पत्रकार वार्ता में समझ में न आए तो कहना चाहिए कि जनहित में वे इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं या कहना चाहिए कि मुझे तथ्यों की जानकारी नहीं है। मैं जानकारी लेकर जवाब दूंगा···आदि-आदि।

दादा ने एक बार फिर जानकारी लेने की स्टाइल में शर्मा जी की ओर देखा। शर्मा जी अभी भी भारत के नक्शे की ओर ही देख रहे थे। इशारे से ही दादा से कहा—चालू हो जाओ···डटे रहो···पीछे मत हटना।

दादा इस बार तनकर बैठ गए, बोले—भाइयो, आप तो जानते ही हैं कि भारत एक कृषि प्रधान देश है···इस साल पानी नहीं आया है और किसानों के खेत सूख रहे हैं···किसान भागे-भागे फिर रहे हैं···और···और अपनी फसल बचा रहे हैं। फसल बच गई तो अच्छा है नहीं तो सब चौपट हो जाएगा···बाल-बच्चे भूखे मर जाएंगे···पानी ही सब कुछ है···एक

कवि ने कहा है···क्या नाम था उस कवि का···हां तो कहा है कि पानी के बिना सब सूना है···इसलिए···

एक पत्रकार ने बीच में कुछ कहना चाहा तो दादा बोले—पहले मेरी बात पूरी सुन लीजिए···पत्रकार वार्ता मैंने बुलाई है तो मेरी बात पहले सुनिए···बाद में जो पूछोगे उसका उत्तर मैं दूंगा···हां तो मैं कह रहा था कि हमें एकता और अखंडता का परिचय देना है···हमें नए बीस सूत्रीय कार्यक्रम को सफल बनाना है···जहां आग लगे उसे बुझाना है···जय हिन्द !

पत्रकार वार्ता और भी लम्बी चलती लेकिन इसी बीच नाश्ता आ गया। दादा संभलकर बैठ गए। मंद-मंद मुस्कुराने लगे जैसा कि एक सफल पत्रकार वार्ता के बाद होता है उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि पत्रकार वार्ता में बिल्कुल नहीं डरे हैं और अब नगरपालिका के फायर-ब्रिगेड की चर्चा अखबारों में होगी तो लोगों को पता चल जाएगा कि उनके कार्यकाल में इस नगर में एक बहुत बड़ा काम हो गया है।

दूसरे दिन अखबारों में फायर-ब्रिगेड की फोटो छपी···दादा फायर-ब्रिगेड की स्टेयरिंग पर बैठे थे और पीछे नगरपालिका का एक चपरासी भारत का नक्शा लेकर खड़ा था।

प्रश्नचिन्ह

लतीफ घोंघी

प्रश्नवाचक चिह्न पर उनकी बड़ी आस्था है। उनकी ऐसी मान्यता है कि अपने देश की सार्थक भाषा है तो प्रश्नवाचक चिह्न की भाषा। उनकी आदत है कि हर स्थिति के पीछे वे एक प्रश्नवाचक चिह्न जरूर लगा देते हैं। इससे दो फायदे हैं। पहला यह कि लोगों को पता चलता है कि इस आदमी का अध्ययन और चिंतन-मनन तगड़ा है और दूसरा यह कि एक प्रश्नवाचक के लग जाने से उस स्थिति के अनेक नये कोण पैदा हो जाते हैं। जैसे आपने लिखा—प्रधान मंत्री। वे उसके पीछे प्रश्नवाचक चिह्न लगा देंगे। आपने लिखा—त्रिपाठी। वे उसके पीछे प्रश्नवाचक चिह्न लगा देंगे। आपने लिखा—शुक्ल। वे उनके पीछे भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा ही देंगे। अब यह सोचना आपका काम है कि इस त्रिकोण के पीछे छिपा रहस्य क्या है? क्यों है और कैसे है? प्रश्नवाचक चिपकाकर वे तो बरी हो गये। अब आप अपना माथा पीटते रहिये।

हम भी पीट रहे हैं उसी दिन से, जिस दिन उनका पत्र हमें मिला। पोस्टकार्ड पर पहले उन्होंने एक बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न बनाया। इसके बाद उसके दाहिने तरफ दो छोटे प्रश्नवाचक चिह्न लगाये। एक हिन्दुस्तान टाइप नक्शा बनाया और उसके अन्दर छोटे-छोटे दस-बारह प्रश्नवाचक बनाए। एक प्रश्नचिह्न ऐसा बनाया जो कृपाण से भी मिलता-जुलता था और त्रिशूल से भी। पोस्टकार्ड को उल्टा करके देखने से लगता था कि कौमी एकता का कोई संदेश है।

पत्र पढ़कर मैं उदास हो गया। इतना गंभीर किस्म का पत्र मैं अपने जीवन में पहली बार पढ़ रहा था। मित्रों को दिखाया तो बोले—जरूर

JSB

किसी महान आदमी का पत्र है, जिसने इस जिंदगी की फिलासफी को अन्दर तक समझा है। मैंने पूछा—मुझे समझाओ कि आखिर ये कहना क्या चाहते हैं? मित्र बोले—यार अजीब मूर्ख आदमी हो…इतनी-सी बात नहीं समझे? वे बता रहे हैं कि प्रश्नवाचक ही सब कुछ है…इसे समझ गये तो सफल हो गये?

मैंने कहा—फिर? वे बोले—फिर क्या…डूब मरो चुल्लू भर पानी में…किस यूनिवर्सिटी से किया है यार एम० ए०?

मैंने तय किया कि उनसे मिलकर इस प्रश्नवाचक चिह्न की फिलासफी जरूर समझूंगा। यही सोचकर मैं उनसे मिलने चला गया।

वे एक साधारण और औसत किस्म के भारतीय आदमी थे। वदन उनका बिल्कुल प्रश्नवाचक चिह्न की तरह लचकदार था। कान प्रश्नवाचक थे। और आंखें तो थीं ही। कुरते की सामने की जेब में आठ-दस प्रश्नवाचक चिह्न भरे थे। पाजामे की दोनों जेबों में प्रश्नवाचक के दो सौ-सौ के बंडल रखे हुए थे। उन्होंने सामने की जेब से एक प्रश्नवाचक चिह्न निकाला और बोले—क्या चलेगा? खारा? मीठा? या और कुछ?

उनके कमरे की दीवार पर बड़े-बड़े दो प्रश्नवाचक चिह्न बने थे। कमरे में चार कुर्सियां रखी थीं और चारों की पीठ प्रश्नवाचक थी। दरवाजे पर लगे परदे पर एक भुस्का टाइप का मोटा-सा प्रश्नवाचक चिह्न बना था। खिड़कियों पर परदे नहीं लगे थे। खिड़की की ग्रिल प्रश्नवाचक डिजाइन में थी। मुझे लगा कि मैं इस कमरे से विक्षिप्त होकर ही बाहर निकलूंगा। यह भी लगभग तय था कि यहां से निकलने के बाद मैं आदमी कम और प्रश्नवाचक अधिक लगूंगा।

वे अन्दर गये और थोड़ी देर बाद कांच की प्लेट में चार-पांच प्रश्नवाचक चिह्न सजा कर ले आये। बोले—लीजिये।

मैंने पूछा—क्या है? मुझे डाइबिटीज़ है। मीठा होगा तो नहीं चलेगा।

उन्होंने एक प्रश्नवाचक चिह्न को बीच से तोड़ा और चखकर बोले—सॉरी…मीठा ही है। नमकीन शर्बत बना देता हूं आपके लिये।

इसके पहले कि मैं इन्कार करता वे आलमारी से एक डिब्बा ले आये।

एक प्रश्नवाचक चिह्न वाली चावी से उन्होंने डिब्बे का ढक्कन खोला। डिब्बे से आठ-दस प्रश्नवाचक चिह्न निकाले और पास रखे खलवत्ते में कूटने लगे।

मैंने पूछा—यह क्या है? वे बोले—सेंधा नमक है। हाजमे के लिये ठीक होता है।

उन्होंने कूट-पीसकर प्रश्नवाचक गिलास में डाले और एक चम्मच से घोलकर मुझे देते हुए बोले—लीजिये।

वड़ी दुविधा में जान फंसी थी। खुदा का नाम लेकर और नाक वंद करके शर्वत को तो अन्दर ढकेल दिया, लेकिन जैसे ही वह प्रश्नवाचक घोल पेट में पहुंचा मुझें लगा जैसे मेरे पेट में कुछ खदवदा रहा है। पेट ऐंठने लगा। मैंने कहा—मेरा पेट गड़वड़ा रहा है।

वे बोले —यही प्रश्नवाचक स्थितियों का सार्थक प्रभाव है। देश में आज एक भी स्थिति ऐसी नहीं है, कि जिसे आप हजम कर सकें। पंजाव को लें, यू० पी० को लें, विहार को लें या गुजरात को लें। चाहे जिसे लें, आपके पेट में गड़गड़ाहट जरूर होगी'''अपना देश प्रश्नवाचक पहले और हिन्दुस्तान वाद में है।

मैंने कहा—जल्दी से एक लोटा पानी मंगवाइए।

वे समझ गये कि मैं वहुत ही चुगद किस्म का आदमी हूं जो देश की इतनी गंभीर स्थितियों की चर्चा के समय एक लोटे पानी के आधार पर ही अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन कर रहा हूं।

वे वोले—अभी लाता हूं।

वे अन्दर गये और एक अल्यूमीनियम के प्रश्नवाचक लोटे में पानी ले आये। मैंने पूछा—कहां का पानी है?

वे वोले—सरकारी योजनाओं का जल है। मेरी हॉवी है कि मैं जो वांध देखने जाता हूं वहां से थोड़ा पानी अपने लिये ले आता हूं जिसका उपयोग इन्हीं स्थितियों में करता हूं। आप गरम पानी चाहते हों तो विवादों में फंसे जल का इंतजाम भी है।

मैंने कहा—नहीं, ठंडा ही चलेगा।

वापस लौटने पर उन्होंने पूछा—अव कैसा लग रहा है?

मैंने कहा—मुझे लग रहा है जैसे मेरे अन्दर कोई वहुत वड़ा प्रश्न छटपटा रहा है···मुझे वेचैनी लग रही है।

उनके चेहरे पर मुस्कान आ गई। वोले—विल्कुल ठीक है। अव समझ में आया आपको कि प्रश्नवाचक क्या है? वुद्धिमान आदमी की तरह सोचोगे तो इसी प्रश्नवाचक चिह्न के आगे-पीछे आपको पूरा देश नज़र आयेगा। एकता नज़र आयेगी। अखंडता नजर आयेगी। आतंकवाद नजर आयेगा। समाज की विसंगतियां नजर आयेंगी और एक मूर्ख आदमी की तरह सोचोगे तो केवल गड़गड़ाता हुआ पेट और एक लोटा पानी ही नजर आयेगा···समझे?

और इसके पहले कि मैं कुछ कहता, उन्होंने पाजामे की जेव से एक प्रश्नवाचक चिह्नों का वजनदार वंडल मेरे मुंह पर मारकर कहा—अव आप जा सकते हैं।

प्रश्नचिन्ह

ईश्वर शर्मा

पेंटिंग के क्षेत्र में जो स्थान माडर्न आर्ट का है, भाषा के क्षेत्र में वही महत्त्व प्रश्नचिह्न को प्राप्त है। कैनवास पर कैसी भी आड़ी-तिरछी रेखाएं खींच दो, बेडौल-सी कोई भी आकृति बना दो, गहरे-उजले रंगों का संयोजन कर दो, बन गई माडर्न आर्ट की महत्त्वपूर्ण तस्वीर। लोग अपनी पूरी बौद्धिकता उड़ेल देते हैं, उसका अर्थ निकालने तथा विश्लेषण करने में। और
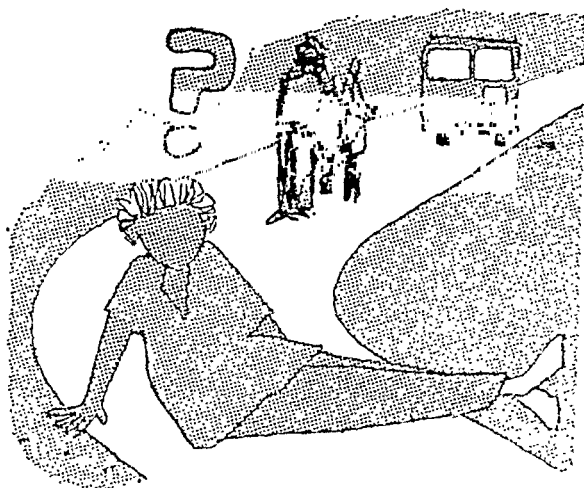
मजेदारी यह कि जितने दर्शक उतने ही अर्थ। कमाल की चीज है माडर्न आर्ट भी।

ऐसी ही कमाल हासिल है प्रश्नवाचक चिह्न को। कैसा भी साधारण से साधारण वाक्य हो, उसके पीछे प्रश्नवाचक टांग कर देखो, पता नहीं कितने अर्थ, कितनी व्यंजनाएं निकलने लगती हैं। एक लम्बी बहस का मुद्दा बन जाता है। वह साधारण-सा दिखने वाला वाक्य अर्थवत्तायुक्त,

बौद्धिक, दार्शनिक, व्यंग्यात्मक और पता नहीं क्या-क्या बन जाता है।

जैसे एक साधारण-सा वाक्य है। 'बस जा रही है।' इसमें कोई गूढ़ अर्थ नहीं है। सीधा-सादा शब्दार्थ लगाया जा सकता है, लेकिन इसी के पीछे जब प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया जाता है, तो जितने दिमाग उतने ही अर्थ निकलने लगते हैं। बस जा रही है? अर्थात् बस जायेगी भी या नहीं? क्या सचमुच बस जा रही है? क्या बस जाती भी है? क्या इस वाक्य में बस का मतलब बस ही है? नहीं तो क्या है?

इस प्रकार की बहसों में जितने दिमाग शामिल होते हैं, अर्थ उतने ही व्यापक होते चले जाते हैं। अर्थात् यह देश-रूपी बस चल रही है या नहीं? अगर चलेगी तो अपने गंतव्य तक पहुंचेगी कि नहीं? इस बस में कोई चालक है या नहीं? या फिर यह बस केवल भगवान भरोसे चलती है? इस बस को कौन चला रहा है? अथवा इस बस में कौन-कौन जा रहे हैं?

एक छोटा-सा प्रश्नचिह्न लगा और भावार्थ की टोकरी से भांति-भांति की व्यंजनाएं बाहर आने लगीं। मैं तो इस प्रश्नचिह्न को बहुत ही अधिक महत्त्व देता हूं। कारण यह कि आपको लम्बे-चौड़े लेख लिखने की जरूरत नहीं। घंटों भाषण देने की आवश्यकता नहीं। अपनी बौद्धिकता झाड़ने के लिये बहस में पड़ने की तकलीफ करने की जरूरत नहीं। बस, प्रश्नचिह्न अपने दिमाग में भरे रखो और जहां आवश्यकता पड़े निकाल कर टांक दो। लोग आपको एक साथ बौद्धिक, चिंतक, दूरद्रष्टा, संवेदनशील, जागरूक, देशप्रेमी, समाजसेवक आदि-आदि मानने लगेंगे। इसके आगे कुछ भी लिखने या बोलने की जरूरत नहीं है। मैं तो प्रश्नचिह्न को भाषा का चाणक्य मानता हूं।

मुझे जब भी तथाकथित बुद्धिजीवियों के बीच बैठने का अवसर मिलता है, मैं इस रामबाण दवा का उपयोग कर अपना अस्तित्व-बोध कराता रहता हूं। इसे अस्तित्व बोध का अनोखा और अचूक तरीका भी कहा जा सकता है। बुद्धिजीवी कहते हैं—समाज की हालत ठीक नहीं है।

मैं गंभीरतापूर्वक कहता हूं—क्यों?

वे कहते हैं—देश गलत राह पर जा रहा है।

मैं दार्शनिकों के अंदाज में पूछता हूं—कैसे?

अब देश गलत राह पर जा रहा है या नहीं, हम सब मिलकर उसकी राहें तय कर ही लेते हैं।

वे मुद्दा उठाते हैं—युवा शक्ति भटक रही है।

मैं बुद्धिजीवी होने का परिचय देते हुए कहता हूं—कहां?

और इसके बाद हम सब मिलकर युवाशक्ति को भटकाकर ही मानते

हैं। ऐसे-ऐसे स्थानों कर भटका देते हैं, [illegible]
नहीं होती।
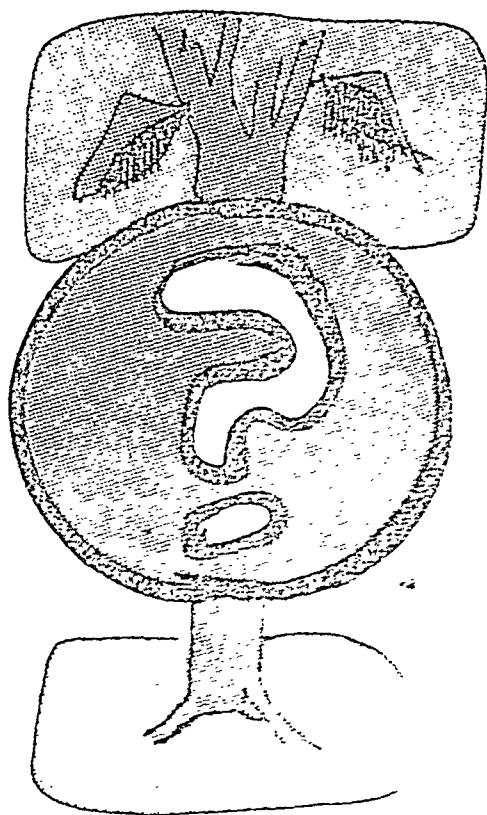
जब मैं पौराणिक संदर्भों [illegible]
ख्याति-प्राप्त कूटनीतिज्ञ कृष्ण [illegible]
जी की सफल कूटनीति, इसमें [illegible]
की चारित्रिक विशेषता, [illegible]

रखने का गुण, आदि ऐसी बातें हैं जो इस प्रश्नचिह्न से पूर्णतः मेल खाती हैं। अब इसे संयोग कहा जाए या कोई तथ्यात्मक सामंजस्य, कि कृष्ण भगवान की विश्वविख्यात आकर्षक त्रिभंगी मुद्रा मुझे प्रश्नचिह्न-सी लगती है। मुरली मनोहर की इस मुद्रा के बाजू में आप प्रश्नचिह्न लगाकर देख लें, दोनों आकृतियों की रेखाकृति में अद्भुत समानता मिलेगी। और गुण; इसका आकलन-विश्लेषण तो आप स्वयं कर सकते हैं।

क्रिकेट का राजरोग जिन लोगों ने पाल रखा है, उन्हें इस बात की अच्छी तरह जानकारी होगी कि फील्डिंग के समय क्रिकेट जगत के चतुर खिलाड़ी सुनील गावस्कर भी अधिकांशतः उसी लोकप्रिय मुद्रा में खड़े होते हैं, जिसे त्रिभंगी मुद्रा या प्रश्नवाचक चिह्न की मुद्रा कहा जा सकता है। शायद यही कारण है कि बहस का केन्द्र उनके इर्द-गिर्द ही बना रहता है। कपिलदेव ने बाल डाली, बैट्समैन ने लांगऑन की ओर चौके के लिए जोरदार शॉट मारा। फील्डर दौड़ रहे हैं। कपिलदेव देख रहे हैं और सुनील गावस्कर शरीर को प्रश्नचिह्न बनाकर खड़े हुए हैं। बस, दर्शकों की अटकलबाजियां शुरू। गावस्कर को कपिल की बॉलिंग पसन्द नहीं आई। सुनील कपिल की पिटाई से खुश हुए। वे फील्ड अरेंजमेंट से नाखुश हैं। कपिल गावस्कर की उपेक्षा करते हैं, कोई सलाह नहीं लेते इसलिए गावस्कर बिना किसी सलाह-मशविरे के चुपचाप खड़े रहते हैं। गावस्कर अपनी मुद्रा में अपनी अप्रसन्नता स्पष्ट कर देते हैं और भी पता नहीं किस तरह की कितनी बातें, कितने कयास। मैं समझता हूं यह सब गावस्कर की प्रश्नचिह्न वाली मुद्रा का ही कमाल है।

पता नहीं क्यों इसी संदर्भ में मुझे कांग्रेस के बुजुर्ग नेता पंडित कमलापति त्रिपाठी, विद्याचरण शुक्ल, सेठी जी आदि-आदि याद आने लगते हैं। मुझे लगता है कि नई उमर के कप्तान कपिलदेव ने इन सीनियर्स को स्लिप में भेज दिया है। जहां वे प्रश्नचिह्न बनकर खड़े हैं और कपिल गावस्कर की भांति ही अटकलबाजियों का दौर चल रहा है। ये सब कपिल की बॉलिंग, फील्ड अरेंजमेंट, सहयोग की भावना, अदूरदर्शिता की अपने-अपने ढंग से आलोचना करते हैं। कप्तान कपिलदेव इनके चूक जाने, सहयोग नहीं देने, अति महत्त्वाकांक्षी होने का संकेत देते रहते हैं।

जब प्रश्नचिह्न की रेखाकृति की बात चल निकली है तो एक राज की बात आपको और बता दूं। सुंदर सुडौल नारी भी मुझे प्रश्नचिह्न की याद दिलाती है। सुंदर-सा मुखमंडल, उभरा हुआ वक्षस्थल, लोचदार कमर, गोलाई लिए हुए नितम्ब और कुछ इसी अंदाज से कुछ दिखते और कुछ छिपते हुए-से खड़े होने का आकर्षक अंदाज। इसके साथ प्रश्नचिह्न को खड़ा करके देख लीजिए, कहीं भी उन्नीस नहीं बैठेगा। जब सौंदर्यपान का कोई सीधा अवसर नहीं मिलता है, तो मैं इस प्रश्नचिह्न को निहारते हुए ही अपना सौंदर्यबोध बढ़ाता हूं। लोग समझते हैं, बहुत बड़ी चिंता में मग्न है। किसी समस्या का समाधान ढूंढ रहा हूं, बुद्धिजीवी, राष्ट्रप्रेमी होने के विशेषण मुफ्त में ही प्राप्त हो जाते हैं।

सच पूछिये तो पूरा देश प्रश्नचिह्नों के बल पर ही चल रहा है। देश चल रहा है या नहीं? नहीं चल रहा है तो कब चलेगा? चल रहा है तो कैसे चल रहा है? किसके दम पर चल रहा है? ऐसे कैसे चल रहा है? जब कोई चला ही नहीं रहा है तो कैसे चल रहा है? वे आये तो क्यों? गये तो क्यों? बोले तो क्यों? और नहीं बोले तो क्यों?

अर्थ यह कि प्रश्नचिह्नों के भरोसे ही गाड़ी खिंच रही है। हर व्यक्ति चेहरे पर प्रश्नचिह्न लिये घूम रहा है, दिशा तय नहीं है, रास्ता नहीं मालूम लेकिन बहस की पूरी गुंजाइश है। बलिहारी है प्रश्नचिह्न की।

जूता

ईश्वर शर्मा

जूता देखते ही मुझे वचपन में पढ़ी राजा हवूचन्द की कहानी याद आ जाती है। भारी धूल से परेशान होकर राजा ने अपने राज्य की पूरी जमीन को चमड़े से ढांक देने का आदेश दे दिया था। गनीमत है हवूचन्द जैसे राजा के जमाने में भी कुछ चालाक लोग रहते थे। एक मोची ने राजा के पैरों को चमड़े से ढंक कर इस समस्या का हल निकाल दिया। जूते का आविष्कार उसी समय से माना जाता है।

उस बुद्धिमान मोची ने तो केवल अपने राजा की समस्या का हल ढूंढने के उद्देश्य से जूते का आविष्कार किया, लेकिन अब तो जूते के अर्थ और संदर्भ ही वदल गए हैं। आज तो जैसा पैर वैसा जूता, और जितना वड़ा जूता, उतनी ज्यादा पालिश वाली वात लागू होती है।

जूते से वैसे कई लाभ भी हैं। पैरों की सुरक्षा। चलने-फिरने में आसानी। दूसरी कोई वैकल्पिक व्यवस्था न हो तो मार-पीट के समय जूता हाजिर है। जो काम जुबान की चिरौरी-विनती से नहीं होते, वे काम जूते की महिमा से मिनटों में हो जाते हैं। जूता पहना जाता है। पहनाया जाता है। दिखाया जाता है। और लगाया भी जाता है। गुणों की खान है जूता।

जूता सुंघाया भी जाता है। वहुत पुराने समय से चली आ रही अचूक औषधि है जूता। मिर्गी से पीड़ित कोई व्यक्ति कभी राह चलते गिर पड़ता ..., तो जुट आयी भीड़ में दो-चार आदमी अवश्य होते हैं, जो आवाज ...ाते हैं—"जूता सुंघाओ जल्दी…अभी होश में आ जाएगा।" ठीक भी ... इस देश में जो मुर्दे हो जाते हैं उन्हें भी अपना जूता निकालकर सुंघा ... तत्काल होश आ जाएगा। मुख्य वात तो यह है कि जूता सुंघाने की

कार्यवाही शुरू तो हो ?

जूता पैर में धारण किया जाता है इसका अर्थ यह नहीं कि वह निकृष्ट हो गया। बल्कि आजकल तो जूतों को महत्त्वपूर्ण दर्जा प्राप्त है। विशेष पैरों तक पहुंचने के लिए जूतों को ही पटाना पड़ता है। यदि जूता न माने तो पैरों के दर्शन ही दुर्लभ हो जायें।

हमारे एक प्रतिष्ठित भइया जी हैं। उनके बहुत सारे चम्मच, करछुल, झारा हैं, लेकिन जूता केवल एक ही है। पैरों की जूती कहावत सुनते आए थे। उस जूते को देखकर कहावत चरितार्थ होती मालूम पड़ती है। [illegible]
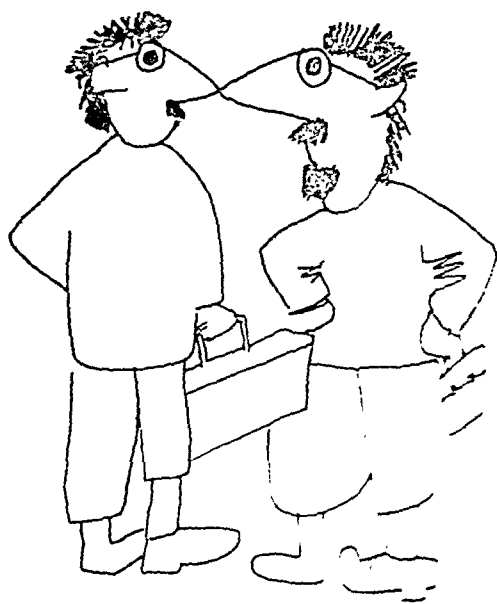
मजाल है कि कोई भइया जी के पैरों तक [illegible] जाये और स्पर्श कर ले। हर वक्त भइया [illegible] हैं। जिस पर वह कृपा-दृष्टि करता है, [illegible] जाता है। कर लो दर्शन। टेक लो मत्था [illegible]

भइया जी भी प्रसन्न हैं जूता-मा[illegible] आराम की स्थिति में होते हैं। भइया जी [illegible] जूता पहने रहने से कभी-कभार इस-उस [illegible] रहती है। खरोंच आती है तो जूतों को। भइया जी [illegible]

सुरक्षित रहते हैं।

भइया जी के वे अभिन्न मेरे अच्छे मित्र हैं। मैंने उनसे एक दिन पूछा—"क्यों भाई, और कुछ नहीं बन सकते थे, जूता क्यों बन गए हो?" वे बोले—"खास बनना था, इसलिए जूता बन गया।"

मैंने होशियारी बताते हुए कहा—"चम्मच-करछुल भी तो खास होते हैं।"

उसने राज की बात बताई—"एक साथ बहुत से चम्मच, बहुत से करछुल होते हैं। लेकिन जूता केवल एक होता है। विभिन्न अवसरों पर भइया जी अलग-अलग चम्मचों को साथ रखते हैं, जब कि जूता हर समय एक ही रखते हैं। है ना विशेष बात?"

मैंने थोड़ा कड़वाहट घोलते हुए कहा—"जूते का और काम भी क्या है, केवल तलवे चाटते रहो।

ठीक इसी वक्त संयोगवश मित्र ने पैरों को आराम देने के लिए अपने जूतों को खोला और मैंने कुछ दूसरा ही अर्थ निकाल लिया और प्रसिद्ध कहावत के अनुसार सिर पर जूते रखकर भाग खड़ा हुआ।

ट्रकों पर आगे-पीछे विशेष तौर पर जूते का चिह्न बना दिखाई देता है। कई ट्रकों में तो सचमुच का जूता ही बांधकर लटका दिया जाता है। साथ ही लिखा रहता है—'बुरी नजर वाले तेरा मुंह काला।' अब बताओ यह भी कोई बात हुई। जूता सामने देखकर भी कोई बुरी नजर डाल सकता है। अरे बुरी तो क्या कोई सीधी-सादी नजर भी नहीं डाल सकता। ले जाओ भइया अपनी ट्रकों को। चाहे जो कुछ भी करो। चलाओ जितनी स्पीड से चलाना है। रौंद डालो दो-चार आदमियों को। किसकी मजाल है जो नजर उठाकर देख ले तुम्हारी ट्रक को। जो दुस्साहस करे उसके लिए जूता तैयार है ही।

आदमी ढीला-ढाला चल रहा हो तो उसे जूता पहना दो। कड़क हो जाएगा। कपड़ों पर कलप भले ही न हो, जूता पहनने से शरीर पर कलप चढ़ जाता है। अकड़कर चलने लगेगा। मैंने तो ऐसे लोग देखे हैं, जब उनकी हैसियत गिरने लगती है, तो वे महंगा जूता पहनने लगते हैं ताकि हैसियत मेन्टेन रहे और वक्त जरूरत पर काम आए। ऐसे भी लोग मिलते

हैं जिनकी चेहरे की रौनक खत्म होने लगती है तो जूतों की चमक बढ़ाने में लग जाते हैं, ताकि गलतफहमी बनी रहे।

एक कहावत है—मोची की नजर हर व्यक्ति के जूतों पर ही रहती है, उसी तरह यह बात भी सही है कि हर जूते की नजर अच्छे पैरों पर ही होती है। फिर तो यह पैरों का ही कमाल है कि साधारण से साधारण जूता भी उन पैरों पर चढ़कर चमकने लगता है।

जूता मखमली हो या जरी के कलात्मक काम वाला, शेर की खाल वाला हो या किसी जानवर के चमड़े वाला, प्लास्टिक वाला हो या कपड़े वाला, सस्ता हो या महंगा, लेकिन जूता हर हालत में जूता ही कहलाता है। ज्यादा अच्छा या महंगा होने से उसका नाम या गुण नहीं बदलता। पहना तो उसे पैरों में ही जाता है। जो इस तथ्य को समझ गये हैं, वे मजे से पैरों के पास पड़े रहते हैं और जिन्हें अपने बारे में कुछ अधिक भ्रम हो जाता है, वे ठुकरा दिये जाते हैं और उसकी जगह दूसरा जूता ले लेता है। जूतों की कोई कमी थोड़े ही है इस समाज में।

और नहीं तो क्या, सोचकर देखिये, समाज में हम सबकी स्थिति जूते के समान ही तो है। हम सब किसी न किसी पाँव में चढ़ने के लिए ही तो अपनी दुकान सजाए बैठे हैं। और ऊपर से सस्ते-महंगे होने का भ्रम पाले बैठे हैं, लेकिन हैं तो जूते ही। जब यह भ्रम ऊंचा हो जाता है, तो उपेक्षित से पड़े रहते हैं पैरों के अभाव में। जब वास्तविकता को समझकर अपना भाव गिराते हैं, तो किसी पांव की शोभा बनकर अच्छी चमक भी दिखाते रहते हैं। वे पैर अपनी इच्छानुसार, आवश्यकतानुसार हमें अपने पैरों में जगह देते हैं, और जरूरत पूरी होने पर एक कोने में धूल खाता छोड़ देते हैं।

जूता सस्ता हो, महंगा हो, लेकिन उसका एक विशेष गुण होता है कि वह गलत पैरों को काट देता है। अफसोस तो यही है कि हम लगातार गलत पैरों में पहने जा रहे हैं, फिर भी किसी पैर को काट नहीं पाये हैं।

जूता

लतीफ घोंघी

स्वतन्त्र उम्मीदवार की तरह जूते की अपनी कोई इमेज नहीं होती। उसकी अपनी कोई पहचान नहीं होती। उसकी पहचान होती है तो केवल पैरों से। नेताजी का जूता इसलिए सम्माननीय होता है, क्योंकि वह नेताजी का जूता है। जब तक पैरों में रहेगा सिद्धान्त, नीति और निष्ठा की ही बात करेगा। और यदि वही जूता किसी सरकारी कर्मचारी के पैरों में आ गया तो सब की ऐसी-तैसी ही करेगा। यह जूतों का कमाल नहीं, पैरों का कमाल है।

कहने का मतलब यह कि नेताजी का जूता ही सम्मान की बात कर सकता है, मेरा जूता जिस दिन ऐसी बातें करेगा, तो लोग कहेंगे— साले, पूरी जिन्दगी तो सड़ी बाथरूम की चप्पलों में काट दी, और आज सिद्धान्त झाड़ रहा है? बेटा, मुड़कर अपने पिछले दिनों को देख, फिर समझाना हमें कि नीति क्या होती है और निष्ठा क्या होती है?

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि जूतों की भी अपनी किस्मत होती है। जूते की दुकान पर डिब्बे में बन्द जूतों का भविष्य किसे मालूम है? होता तो यह भी है कि पांच साल तक डिब्बे में सड़ते रहो और अचानक आला कमान की नजर पड़ गई तो किस्मत ही बदल गई समझो। यही वजह है कि आज सैकड़ों जूते चल रहे हैं प्रजातन्त्र में। कोई मंत्री के पैर में तो कोई विधायक के पैर में। अपनी-अपनी किस्मत है, वर्ना चमड़ा तो सब में मरे हुए जानवर का ही होता है। मंत्री जी का जूता उठाने वाले भी अपने आप को गौरवान्वित महसूस करेंगे, जब कि हम यदि किसी से कहें कि हमारा जूता उठाओ तो वह हमें दस जूते गिनकर मारेगा और कहेगा— साले, आजादी

नया मिल गई, अपनी औकात भी भूल गया!

घूरे के दिन भी अपने देश में फिरते हैं, तो जूतों के क्यों नहीं फिरें। तो साहब फिर गये उस नागरा के दिन, जिस दिन नेताजी की नज़र उस पर पड़ गई। उसने अपने भाइयों को हिकारत की नजर से देखा और घुस गया नेताजी के पैरों में। जूतों की क्या बात करें, वह तो हमारी नज़रों में भी उसी दिन आदरणीय हो गया। अब तो हमारे सिर पर भी बैठेगा तो हम कहेंगे—आह···कितना मुलायम है!

इस नागरा का किस्सा यह है कि यह काका की दुकान का है। काका याने कि काका बूट हाउस। उम्दा किस्म के टिकाऊ जूते मिलने का देश में एकमात्र स्थान। काका का किस्सा इसके साथ ही यह है कि काका नंगे पैर आया था इधर, और आज जूते की दुकान खोलकर बैठा है। किस्मत है अपनी-अपनी। वैसे काका का कहना है कि आजादी के पहले भी उसकी दुकान थी और वह कुरुम सोल का जूता राय बहादुर और खान बहादुर के पैरों में पहनाता रहा।

काका की आदत हाई हील में बातें करने की है। मेरी उससे दोस्ती इसलिए है कि मैं हर बार जूतों की कीमत पूछता हूं और खाली पैर घर लौट आता हूं। मेरी इस आदत से परेशान होकर काका ने एक दिन कहा—मेरी दुकान से तो तुम इस जिन्दगी में जूता लेने से रहे···खुदा तुम्हें जन्नत में जूते देगा।

यह दुआ देने के बाद भी काका कभी निराश नहीं हुए। हमेशा जूता टिकाने की कोशिश करते रहे। ग्राहक है तो जाएगा कहां। कभी न कभी तो लेगा। आखिर जीना तो उसे इसी देश में है।

इस बार भी कुछ ऐसा हुआ कि काका मुझे ग्वालियर लेदर फैक्ट्री का सरकारी जूता टिकाने के चक्कर में थे। बोले—ले जाओ···खूब चलेगा।

मैंने काहा—काका, ये सरकारी जूता मुझे सूट नहीं होगा।

काका ने पूछा—क्यों···सूट कैसे नहीं होगा?

मैंने कहा—जानता हूं काका, साला काटेगा···मोटे चमड़े का माल है और मैं तो यही मानता हूं कि जिस दिन सरकारी जूता [illegible] देगा, उस दिन देश के अन्दर क्रान्ति आ जाएगी।

वे बोले—नहीं, ऐसी बात नहीं है। सरकार ने इतना बड़ा कारखाना ग्वालियर में डाला है तो कुछ सोच-समझकर ही डाला है। मेरा तजुर्बा कहता है कि सरकारी जूता बहुत समझदार होता है। हिसाब से पहनोगे तो बिल्कुल नहीं काटेगा, और यदि तुम बिल्कुल रगड़ने पर ही तुल जाओगे तो काटेगा नहीं तो क्या करेगा। इसलिए मेरी मानो और ले जाओ···चीज़ अच्छी है। इसकी गारन्टी है। पांच साल न चले तो हमारे सिर पर मार देना।

मैंने जरा मजाक करते हुए कहा—पांच साल क्यों काका ?

वे बोले—इधर का लिमिटेशन पांच साल का है···उसके बाद जूता क्या आदमी भी सड़क पर आ जाता है।

काका ने तो टिका ही दिया होता, लेकिन मेरी किस्मत अच्छी थी कि नेताजी आ गये। बोले—काका, कोई बढ़िया जूता दिखाओ।

काका अपनी कुरसी से खड़े हो गए। उनके पैरों की ओर देखकर अंदाजा लगाने लगे, लेकिन नेता के पैरों का अंदाजा जब बड़े-बड़े लोग नहीं पाते तो इस कस्बे के काका क्या बता पाते। नेताजी से पूछना भी तो अच्छा नहीं लगता कि आपको किस नम्बर का चलेगा। काका की इज्जत का सवाल भी था। जूता ठीक नहीं बैठा तो लोग कहेंगे कि चालीस साल में काका को पैर पहचानना नहीं आया। पोलिंग बूथ में जब कोई देहाती जाता है, और उसका दिमाग चकरा जाता है, तो वह अन्दाज से कहीं भी ठप्पा मार देता है। कुछ इसी स्टाइल से काका ने ग्वालियर फैक्टरी का वही जूता उठाया, जो मुझे टिकाना चाहते थे।

नेताजी को इतना फिट बैठा जूता कि मैं भी सोचने लगा कि नेता और सरकार में कितना अच्छा तालमेल है। लगता था जैसे सरकार ने यह जूता नेताजी के लिए ही पैदा किया हो। यहीं सरकार की दूरदृष्टि मेरी समझ में आई। अब उस जूते की इमेज बन गई समझो। वह विधान सभा में जाएगा। मंत्रियों के घर जाएगा। सचिवालय में जाएगा। जहां तबियत होगी बेरोक-टोक जाएगा। साहब के बंगलों की कालीनें गन्दी करने का अधिकार मिल गया था आज उसे। अच्छा ही हुआ। मेरे घर आता तो जिन्दगी-भर राशन की दुकान की लाइन में बोर हो जाता।

नेताजी के जाने के बाद मैंने काका से पूछा—काका, ये तो बताओ कि अभी जो जूता आपने दिया है, वह पांच साल चलेगा कि नहीं? कहीं बेचारे नेताजी बीच में परेशान न हो जाएं।

काका मुस्कुराए। उनके चेहरे पर वही हंसी थी जो हमारे प्रधानमंत्री जी के चेहरे पर कभी-कभी विदेशी मेहमानों के साथ होती है।

काका ने कुरते की जेब से बीड़ी का बंडल निकाला। दो बीड़ियां एक साथ सुलगाईं। फिर उसे दाहिने हाथ में दबाकर हिलाया और बोले—हम हिन्दुस्तानी लोग हैं। जब तक जूता फेंकने लायक नहीं हो जाता, उसे रगड़ते हैं। पांच साल तक नहीं भी चलेगा तो उसे चलाना पड़ेगा। इधर का लिमिटेशन इतना ही है।

मैंने कहा—यदि नेताजी ने शिकायत की तो?

काका बोले—शिकायत कैसे करेगा भई...सरकारी फैक्टरी का माल है ना...नेता कभी सरकार की शिकायत कर सकता है? बोलो? हम आज इधर चालीस साल से जूता बेच रहे हैं तो कुछ हमको भी समझ है। हम भाजपा और जनता वाले को कभी पांच साल की गारन्टी नहीं देते। लेना है तो लो नहीं तो दूसरी दुकान देखो। हम जानते हैं कि कितना भी मजबूत जूता दो-चार महीने में मुंह खोल देता है, समझ में आया?

मैंने कहा—तो पांच साल तक चलाना ही पड़ेगा काका? और कोई रास्ता नहीं है?

काका ने कहा—लो बीड़ी पियो, फालतू बकवास करने से कोई फायदा नहीं। समझा कुछ?

चिन्ता

लतीफ घोंघी

मैंने वड़े-वड़े चिन्ता करने वाले देखे हैं, लेकिन हमारे चिन्ताराम गुरुजी जैसा चिन्ता प्रधान आदमी नहीं देखा। उनके रोम-रोम में चिन्ता वसी है। जिस टावेल से वे अपना पसीना पोंछते हैं, उस टावेल से चिन्ता की गन्ध आती है। आप इसी से पता लगा सकते हैं कि उनकी चिन्ता का स्तर कितना ऊंचा है। उनको हमने कभी खाली नहीं देखा। जव भी देखा किसी न किसी वात पर चिन्ता व्यक्त करते हुए ही देखा है। चिन्ताराम गुरुजी को तो विदेश में होना था। लेकिन वे अपने यहां सड़ रहे हैं। इसे ही कहते हैं, विधि की विडम्वना। आपने उनसे वात शुरू भी नहीं की और वे उदास हो जाएंगे। उनको इस वात की चिन्ता लग जाएगी कि जाने हम क्या कहने वाले हैं। ऐसे महापुरुष विरले ही मिलते हैं, लेकिन हमारे यहां तो हैं। चिन्ता में वे इतना डूव गये हैं कि उन्होंने अपने घर का नाम ही 'चिन्ता-निवास' रख दिया है।

चिन्ता करने का उनका अपना मौलिक ढंग है। जिस वात पर उन्हें चिन्ता करना है, उसके वारे में कुछ सोचे विना ही उदास हो जाना उनकी अपनी विशेपता है। फिर जेव से रूमाल निकालकर आंखें पोंछना उनकी दूसरी विशेपता है। तीसरे चरण में वे अपने दांत किटकिटाते हैं, जैसे उन्हें अव-तव मिरगी आने वाली है। वैसे उनका शारीरिक ढांचा भी वड़ा चिन्ता प्रधान है। चेहरा हिन्दुस्तान के नक्शे की तरह लम्वोतरा है, और खासकर उनकी ठुड्डी का आकार श्रीलंका की तरह है। आंखें वड़ी-वड़ी हैं और कान जरूरत से अधिक लम्वे हैं। ऐसा आदमी दिखने में ही चिन्ताजनक लगता है।

मैं उनसे पहली बार एक होटल में मिला था। वे भजिये खा रहे थे। एक भजिया मुंह में डालते और दस मिनट तक सोचते। वे चिन्ता में डूबे हैं या भजिया खा रहे हैं, यह जानना बहुत मुश्किल काम था। आप उन्हें गम्भीरता से भजिया गले के नीचे उतारते देखते तो लगता, जैसे यह आदमी देश के लिए चिन्तित है। भजिया जुगाली करते हुए यदि आपका ध्यान उनके जबड़ों की तरफ जाता, तो लगता जैसे वे व्यवस्था के प्रति चिन्तित हैं। उन्हें भजिये की प्लेट की ओर गम्भीरता से देखते हुए आपको लगता, जैसे वे पंजाब समस्या पर चिन्ता व्यक्त कर रहे हैं। कभी उनकी आंखों में दिल्ली की चिन्ता नजर आती। फिर जब वे आंखें मिचमिचाते तो लगता, जैसे यह दिल्ली की चिन्ता नहीं है, यह तो मध्य प्रदेश की है। उनका यह प्रारूप देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। सही मायने में मुझे लगा कि ये आदमी हैं अपने देश के लायक। ऐसे सौ-पचास लोग हो जाएं तो हमें भी देश की चिन्ता का अहसास हो। कहने का मतलब यह कि दिखने में वे फांटू किस्म के चिन्ता करने वाले कतई नहीं लगते थे।

मैं उनके पास जाकर बैठ गया। तब मैं महसूस कर रहा था कि उनके चेहरे पर दूसरे किस्म की चिंता आ गई। मुझे लगा, जैसे वे देश की बढ़ती हुई आबादी से चिंतित हैं। आबादी इतनी बढ़ जाएगी तो हर आदमी को इक्कीसवीं सदी में जाते तक एक भजिया भी नहीं मिलेगा। [illegible] के आदमी हैं चिंता का पीछा ही नहीं छोड़ रहे हैं। बड़ी हिम्मत करके मैंने पूछा—क्यों, गुरुजी, बड़े चिंतित हो? क्या बात है? हमें भी तो बताइए।

उन्होंने जेब से रुमाल निकालकर आँखें पोंछीं और दांत किटकिटाने लगे, तभी मैंने अंदाजा लगा लिया कि कोई बहुत बड़े स्तर की चिन्ता है। भजिए की प्लेट के पास रखा पानी का गिलास उन्होंने उठाया। उस गिलास को बहुत देर तक देखा फिर एक घूंट पानी पिया। प्लेट में बाकी बचे भजिए की ओर पैनी दृष्टि से देखा और बोले—शिक्षा का स्तर गिर रहा है।

मैं इसे चिंताराम गुरुजी की विशेषता ही मानता हूं। आप चेहरे से तो अंदाजा लगा ही नहीं सकते कि कौन सी चिंता उन्हें अन्दर ही अन्दर खाए जा रही है। मुझे ही देखिए। मैंने उन्हें देखकर चिंता के कितने अर्थ निकाले थे, लेकिन अन्त में सब गलत हो गए। मुझे लगा कि [illegible]

ने इस शिक्षा के गिरते हुए स्तर की चिंता में आज घर में खाना नहीं खाया है, और होटल में बैठकर भजिया दबा रहा है।

मैंने कहा—अरे हटाओ गुरुजी···आप भी फालतू की चिंता करते हो। अपने प्रधानमंत्री ने नयी शिक्षा नीति लागू कर दी है। दस-बीस साल में शिक्षा का स्तर ऊपर उठ जाएगा। हमारी मानो और आप बिल्कुल चिंता मत करो।

वे बोले—कैसे नहीं करें भइया···हमारे कंधों पर तो युवा पीढ़ी का भार है···इसी में से कल के दिन विधायक बनेंगे, सांसद बनेंगे···तो हमको चिंता कैसे नहीं होगी बताओ?
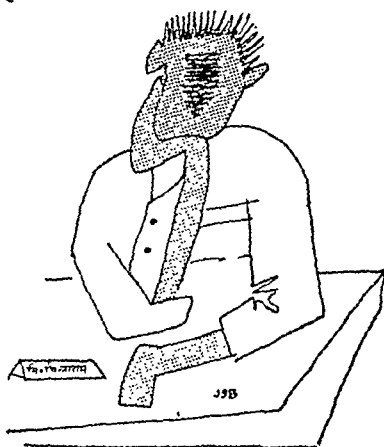
इतना कहने के बाद गुरुजी एकदम उदास हो गए। मुझे लगा जैसे वे दहाड़ मारकर रो देंगे शिक्षा की चिंता से।

मैंने कहा—अरे गुरुजी, बनेंगे तब बनेंगे। आप अभी से चिंता क्यों कर रहे हो?

वे बोले—चिंता तो करनी ही पड़ेगी, हर हालत में।

मैंने पूछा—क्यों?

उन्होंने कहा—क्यों क्या? अरे हमारा ट्रांसफर तो यही करेंगे ना? अब बताओ कैसे चिंता न करें?

मैंने कहा—गुरुजी, तब तक तो आप रिटायर हो जायेंगे, फिर क्यों

चिंता करते हैं ?

वे बोले—भइया, हमें अपनी चिंता नहीं है···हमें तो अपने लड़के की चिंता है···वो कहता कि मास्टरी करेगा···बड़ा आराम है इसमें···अब बताओ कैसे चिंता नहीं करेंगे···विधायक बनके हमारे टूरे को तंग करेंगे ना···बस यही तो बात है···इसी चिंता में हम ठीक से खाना तक नहीं खा पा रहे हैं।

मैंने सोचा कि बड़ा विचित्र किस्म की चिंता करने वाला प्राणी है अपना गुरुजी भी। मैंने कहा—तो इसमें शिक्षा के स्तर का क्या लेना-देना है ? हम तो कहते हैं कि आप चिंता करना छोड़ दो।

उन्होंने फिर प्लेट में बचे दो भजियों की ओर देखा। विचार में डूब गए। मैंने सोचा कि ये आदमी बिल्कुल डूब ही जाएगा तो मुश्किल खड़ी कर देगा, इसको खींचकर बाहर निकाल लो। यही सोचकर मैंने उन्हें चिंता के समुद्र से बाहर खींचने की कोशिश की। कहा—गुरुजी···

वे छटपटा कर समुद्र के बाहर निकले। कहा—लेना-देना कैसे नहीं है···हम गुरुजी लोग हैं···शिक्षा नीति की हम चिंता नहीं करेंगे तो कौन करेगा ?

मैंने कहा—ठीक है··· करना है तो करो, लेकिन अपनी हालत भी तो देखो···आपकी हैल्थ किस बुरी तरह डाउन हो रही है···इस नयी शिक्षा नीति से लोग रोज हैल्थ बना रहे हैं, और आप हैं कि चिंता कर-कर के अपनी हैल्थ बिगाड़ रहे हो। अब दूसरे गुरुजी लोगों को चिंता नहीं है, तो आप क्यों चिंता कर रहे हो ?

वे बोले—चिंता कैसे नहीं करेंगे भइया···सबके पास दस-दस ट्यूशन हैं, और हमारे पास कसम खाने के लिए भी एक ट्यूशन नहीं है···आप बताओ, नई शिक्षा नीति की चिंता हम नहीं करेंगे तो कौन करेगा ?

मैंने सोचा कि गुरुजी को और थोड़ा बाहर खींच लें तो उनकी चिंता कम हो जाए। मैंने कहा—गुरुजी आपको पंजाब की चिंता नहीं है··· बंगाल की चिंता नहीं है ?

वे बोले—अरे यार, हम तो अपनी शिक्षा नीति की चिंता में मर रहे हैं। हमें पंजाब से क्या करना है और बंगाल से क्या करना है··· साला कोई

ट्यूशन पढ़ने को तैयार ही नहीं होता…

मैंने सोचा—अरे वाह रे चिंताराम गुरुजी…एक ही चिंता में तूने अपना जीवन बिता दिया। चिंता जैसे शब्द को तूने इतनी गम्भीरता से लिया, ये तेरी महानता ही नहीं इस देश की मिट्टी का कमाल है जहां तू जन्मा है। धन्य हो भारत भाग्य विधाता। तूने अपने नाम से ही 'चिंता' को सार्थक कर दिया।

मैं सोच ही रहा था कि गुरुजी ने प्लेट में रखे दोनों भजिये एक साथ मुंह में डाले और फिर चिंता में डूब गए।

चिन्ता

ईश्वर शर्मा

मुझसे यदि कोई प्रश्न करे कि—"कश्मीर से कन्याकुमारी तक इस देश में क्या समानता है?" तो मेरा उत्तर होगा—"चिन्ता।"

आप किसी भी व्यक्ति से मिलकर देख लें, बात करके तसल्ली कर लें —हर आदमी चिंतित मिलेगा। चिंता भी रोजी-रोटी, नौकरी, घर-परिवार की नहीं। यह तो व्यक्तिगत समस्या है। असल चिंता तो वह कहलाती है, जो व्यापक परिवेश में देश, विदेश, समाज या राजनीति के संदर्भ में की जाये।

इस देश में हर व्यक्ति चिंता लादे फिरता है, और विषय ढूंढ़ता है जहां उसे पटक कर अपना बोझ हल्का करे। परिस्थितियों के अनुसार चिंता के विषय भी बदलते रहते हैं। क्रिकेट का सीज़न चल रहा होता है तो चिंता का क्रिकेटीकरण हो जाता है। हॉकी मैच प्रारम्भ हुए तो गिरगिट से भी तेज गति से रंग बदलते हुए चिंता हाकीमय हो जाती है। कभी खेलों में घुसी राजनीति की चिंता होती है, कभी एशियाड का रंग चढ़ा है तो कभी ओलम्पिक का।

अभी हम एशियाड में गर्वपूर्वक अपनी नाक कटवा कर लौटे हैं। हॉकी में तो ऐसे डूबे कि तैरने की तो बात ही क्या, हाथ-पैर भी न मार सके। पूरा देश चिंतित है। राष्ट्रीय स्तर पर चिंता पखवाड़ा मनाया जा रहा है।

एक सज्जन कह रहे थे—"स्सालों ने नाक कटवा दी। शर्म से गर्दन झुकी जा रही है..."

अब ये भी कोई बात हुई। हारे वे लोग और गर्दन इनकी झुकी जा रही है। गर्दन न हुई बनिये का तराज़ू हो गया, जो बिना सामान के ही

झुका जा रहा है। इनकी गर्दन उस दिन नहीं झुकी थी जब उधारी वसूली के लिये चौक में दूकानदार ने कालर पकड़ी थी। लोगों ने बीच-बचाव से मामला सुलझा दिया, लेकिन मजाल है इनके चेहरे पर शिकन भी पड़ी हो। अभी देखो तो बड़ी विवेक की बातें कर रहे हैं—"स्साले हराम का खा-खा कर तन्ना रहे हैं। मेहनत तो करना ही नहीं है। ये क्या नमक अदा करेंगे देश का।

इधर एशियाड गया नहीं कि चिंता करने वालों ने ओलम्पिक का नया खाता खोल लिया। ओलम्पिक के साथ ही क्रिकेट विश्वकप का कीड़ा भी कुलबुलाने लगा है। एक चिंताजीवी कह रहे थे—"ये कपिल, गावस्कर अपने झगड़े में क्रिकेट की ऐसी-तैसी करके ही मानेंगे।"

मैंने पूछा—"आपके आफिस में जो नवयुवक अफसर आया है, उससे आपकी कैसी निभ रही है ?"

वे तमतमाकर बोले—"अभी नया-नया आया है। अफसर हो गया तो क्या तोपचंद हो गया ? हम जैसे सीनियर लोगों को पूछता नहीं तो क्या खाक पटेगी उससे।"

मैंने कहा—"वह अफसर नया आया है, लेकिन आप तो अनुभवी हैं। उसे सहयोग देकर काम समझने का अवसर तो दीजिये।"

वे झल्ला उठे—"हम खुद होकर क्यों सहयोग दें। वह हमसे दबकर चलेगा तो हम भी साथ देंगे, नहीं तो हर बात में अड़ायेंगे।"

उधर कोई राजनीतिक फेर-बदल हुआ नहीं, कि लोगों में राजनीतिक चिंता सवार हो जाती है। मेरे एक पड़ोसी हैं, जिन्हें राजनीति का अच्छा जानकार होने का भ्रम अरसे से बना हुआ है। उनके इस भ्रम को दूर करने की हिम्मत भी किसी में दिखाई नहीं पड़ती। राजनीति के किसी भी पहलू पर वे घंटों भाषण पेल सकते हैं। उनका लड़का आवारागर्दी करता घूमता रहता है। लड़की थोक में आंखें लड़ाती रहती है। लेकिन उनकी महानता देखिये, अपनी चिंता को राजनीतिक से पारिवारिक कभी नहीं होने देते। चिंता के मामले में हमेशा अपना राष्ट्रीय स्तर बनाये रखते हैं। बहस की जरा-सी गुंजाइश दिखी नहीं कि शुरू हो जाते हैं—"ये कल के छोकरे देश को क्या चलायेंगे ? देख लेना कैसी दुर्गति बनाते हैं ?"

मैंने पूछा—"तो इन्हें क्या करना चाहिये ?"

चिंता-मनीषी ने कहा—"सलाह लेनी चाहिए।"

"किससे ?"

इस पर वे सोच में पड़ गये। बोले—इस पर थोड़ा विचार करना पड़ेगा।

यह बड़ी हास्यास्पद स्थिति है। ये जो परमानेंट चिन्ताधारक हैं वे किसी भी स्थिति या व्यक्ति से खुश नहीं रहते हैं। आलोचना तो बढ़-चढ़कर करेंगे, लेकिन विकल्प में कोई नाम नहीं सुझा पाते हैं। इसका मुख्य

कारण यह है कि इनकी दृष्टि में हर व्यक्ति में कोई-न-कोई दोष बना रहता है। वैसे भी इनकी चिन्ता का अभीष्ट किसी समस्या का समाधान करना नहीं होता है। सामने जो विषय है, उसे चिन्तामय करो और फुर्सत पा जाओ।

ऐसा ही दृष्टिकोण चुनाव के समय देखने को मिलता है। किसे टिकिट मिलना चाहिये और किसी को क्यों नहीं मिलना चाहिये, इसका पूरा विश्लेषण इन चिन्तावाहकों के पास रहता है, जिसके आधार पर वे बैठे-ठाले ही दूध का दूध और पानी का पानी करते रहते हैं।

एक चिन्तापति कह रहे थे—"हर चुनाव में हम पर अयोग्य

वारों को लाद दिया जाता है। इस बार किसी योग्य व्यक्ति को टिकिट मिलना चाहिये।"

मैंने पूछा—"आपकी नजर में कौन व्यक्ति योग्य उम्मीदवार हो सकता है?"

वे आज तक खोज रहे हैं। उन्हें अभी तक कोई योग्य उम्मीवार मिल ही नहीं पाया।

कुछ चिन्तावाहक ऐसे मिलते हैं, जिनकी चिन्ता देश की धरती पर पैर ही नहीं रखती, विदेशी भूमि पर ही मंडराती रहती है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपकरण भी इतनी तीव्र गति से नहीं चलते होंगे, जितनी तीव्रता से इनकी चिन्ता देशों की सीमाएं लांघती जाती है। वे पाकिस्तान, रूस, अमेरिका होते हुए एकदम चीन पहुंच जाते हैं। अभी आप चीन की दीवार पर चढ़ भी नहीं पाते कि इनकी चिन्ता इटली, जर्मनी, इंग्लैंड होते हुए अफ्रीका में उतर पड़ती है।

मैंने उनसे एक दिन पूछा—"इतने लम्बे अनुभव के लिए आपको काफी देशों में घूमना पड़ा होगा?"

चिन्ता-शिरोमणी ने कहा—"घूमने की क्या जरूरत। यहां वैठे-वैठे ही समस्या समझ में आ जाती है।"

मैंने पुन: शंका प्रगट की—"फिर भी विना घूमे ही चिन्ता की इतनी लम्बी मार!"

वे वोले—"चिन्ता तो वैठे-वैठे करने की चीज है। जो लोग घूम-घूमकर समस्या को समझते हैं, वे तो स्वयं चिंतित हो उठते हैं। चिन्ता क्या खाक करेंगे।"

चिन्तावाहक और चिन्तित के इस विश्लेषण पर मैं ही उलझकर रह गया।

इन चिन्ताधीशों के सम्वन्ध में एक दिलचस्प वात यह है कि ये सुवह से शाम तक गमगीन होकर विपय-दर-विपय चिन्ता करते रहेंगे, और रात को लम्बी तानकर सुख की नींद सोते मिलेंगे। सुवह उठने पर नये संदर्भों के अनुसार इनकी चिन्ता का अंकुरण व फैलाव होता है। उसी अनुपात से गले में भर्राहट, चेहरे पर मायूसी और आंखों में चिन्ता के आंसू होते हैं।

हमेशा इनका विषय से भावनात्मक सम्बन्ध ही स्थापित होता है। क्रियात्मक नहीं। ये किसी चिन्ता में आपके साथ सिर जोड़ कर रो सकते हैं, कन्धे भिड़ाकर उसे दूर करने के लिये आपके प्रयासों में भागीदार नहीं बन सकते।

ये चिन्तामणी चिन्ता व्यक्त करेंगे—"देश की हालत बिगड़ती जा रही है। भविष्य में अंधकार के सिवाय कुछ नजर नहीं आ रहा है।"

आप इनसे कहें—"चलो हम और आप मिलकर हालत सुधारने का काम करें, कुछ रोशनी लाने की पहल करें, तो इनका जवाब होगा---मुझे अभी फुरसत नहीं है।"

इन्हें फुरसत मिल भी कैसे सकती है, जिन्हें जीवन के हर पहलू पर केवल चिन्ता व्यक्त करना है। वह किसी एक दिशा में सुधार के लिए वक्त कैसे निकाल सकता है? हर व्यक्ति अपने स्थान पर बैठा-बैठा दुखी हो रहा है। मिलनेवालों को दुःखी कर रहा है। चिन्ता का परस्पर आदान-प्रदान कर रहा है और रात को लम्बी तानकर मीठी नींद सो रहा है।

पतझड़

ईश्वर शर्मा

पतझड़ केवल वृक्षों पर ही नहीं, राजनीतिक दलों पर भी आता है। बड़े-बड़े दिग्गज नेता पार्टी की डाल पर इतराते रहते हैं। लेकिन उधर चुनाव हुए नहीं कि इधर जर्जर पत्तों की तरह जमीन पर टपकने लगते हैं। जिस तरह पतझड़ आने पर वृक्ष को अपनी वास्तविकता दिखाई पड़ती है उसी तरह चुनाव होने पर राजनीतिक पार्टी को अपने अस्तित्व का पता चलता है। चुनाव के बाद कई राजनीतिक दल ठूंठ की तरह खड़े दिखाई देते हैं।

ऐसे ही एक ठूंठ हो गये दल के नेता से मैंने पूछा—क्यों दादा, आप तो अपनी जड़ें मजबूत होने का दावा कर रहे थे···लेकिन हवा का मामूली झोंका भी बर्दाश्त नहीं कर पाये?

वे बोले—पत्ते सभी पुराने पड़ गये थे। उनकी पकड़ डालियों पर मजबूत नहीं रह गई थी।

मैंने पूछा—लेकिन पहले तो आप उनकी मजबूत पकड़ की वकालत कर रहे थे···अब आज दूसरी बात कह रहे है।

उन्होंने जवाब दिया—देखो भई, यह तो नियम है प्रकृति का। जब अपनी शाख से जुड़े हैं, उनका पक्ष लेना ही पड़ता है अन्यथा वे कितने मजबूत थे हमें ही मालूम है।

ऐसा ही होता है। पतझड़ आने के पहले तक वृक्ष अपने पीले पत्तों को लिये अभिमान से झूमते हैं, और पतझड़ का मौसम शुरू होते ही एक झटके में अपनी औकात पर आ जाते हैं।

पतझड़ का मौसम शुरू हो गया। हरे-भरे वृक्ष सूखने लगे। लेकिन मुझे आश्चर्य उस समय हुआ, जब सूखे वृक्षों के जंगल में एक भरा-पूरा वृक्ष

दिखाई दिया। ऊपर से नीचे तक हरी पत्तियों से लदा हुआ। फूल भी लगे हैं, फल भी दिख रहे हैं। सब प्रजातांत्रिक प्रकृति की माया है।

मैंने करीब जाकर पूछा—इस जंगल में तुम खुशनसीब कौन हो भाई? पूरे जंगल का हरापन अकेले ही समेटे हुए हो?

उसने झूमकर जवाब दिया—हम हाई कमान हैं श्रीमान्!

—हाई कमान पर पतझड़ का असर नहीं होता क्या?

—बेवकूफों जैसी बातें करते हो''हम पर पतझड़ कौन लायेगा? कहां पतझड़ फैलाना है और कहां बहार लाना है यह तो हमारा काम है।

मेरे मन में हाई कमान के प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी। मैं समझ गया कि ये जो हाई कमान है, भगवान टाइप की कोई चीज है। बल्कि उससे भी कहीं ऊंची। भगवान जिस काम को नहीं कर सकता, उसे हाई कमान कर रहा है। ऊपर वाला पतझड़ लाता है तो सब जगह एकसाथ। कोई भेद-भाव नहीं। कोई मोटा-पतला नहीं। बहार भी फैलाता है तो समान दृष्टि से। लेकिन इस हाई कमान ने तो कमाल ही कर दिया। एक ही जंगल में पच्चीस-तीस वृक्ष जहां पतझड़ से जूझ रहे हैं, वहीं एक-दो वृक्ष हरियाली से लदे-फंदे इठला रहे हैं।

इसे ही कहते हैं—अंधा बांटे रेवड़ी, चीन्ह-चीन्ह कर देय।

इसी जंगल में एक और वृक्ष को देखकर मैं अचरज में पड़ गया। यह काफी वरिष्ठ टाइप का वृक्ष था। दूर-दूर से लोग इसकी परिक्रमा करने आते थे। इसकी जड़ें बहुत दूर तक फैली थीं। छोटे-मोटे पौधे इसके सान्निध्य में रहकर ही गौरवान्वित हो लेते थे। जब ऊंचाइयों पर इस वृक्ष की पत्तियां लहरातीं, तो लगता जैसे वह आकाश से बातें कर रहा है लेकिन इस बार उस पर पतझड़ का जबरदस्त अटैक हुआ। सारी पत्तियां झड़ गईं। शाखों के रूप में शरीर की हड्डी-हड्डी दिखाई देने लगी। वैसे जड़ें अभी भी जमी हुई दिख रही थीं, पर चेहरे से रौनक गायब थी।

मैंने उसके पास पहुंचकर सहानुभूति के लहजे में पूछा—भइया, क्या हालत बना रखी है? इन्टेन्सिव केयर यूनिट में भरती क्यों नहीं हो जाते? दिल्ली में तो एक से एक बड़े अस्पताल हैं।

—अभी हमारी अनबन चल रही है।

—किससे ?

—हाई कमान से।

—लेकिन भइया पहले तो आप हाई कमान के करीब थे। हाई कमान ने आपके ही इशारे पर कइयों पर पतझड़ भेजा है और आज हालत यह है कि आप जैसे सदावहार पर ही पतझड़ आ गया। आखिर वात क्या हो गई ?

वह चुप रहा। तेज गर्मी और लू के थपेड़ों से वह काफी सूख गया था। मेरी बातें ध्यान से सुनने के वाद उसने एक अंगड़ाई ली। कई हड्डियां
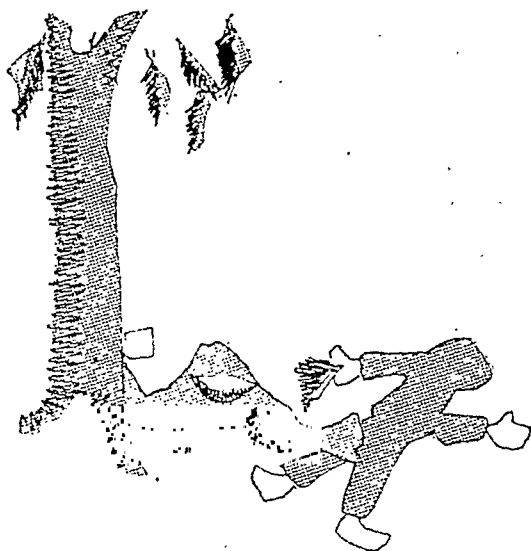
चटक गईं। फिर शरीर को ढीला किया और कहा—अव क्या बतायें तुम्हें…इतने साल हो गये हाई कमान के साथ रहते। अव तुम ही वताओ क या हम केवल पिछलग्गू वनने के लिए ही हैं ? अव तो हम खुद हाई कमान वनना चाहते हैं।

मेरी समझ में आ गया कि ला-इलाज वीमारी वाला मामला है। छोटा-मो टा अटैक होता तो रांची, आगरा में ही ठीक हो जाता, लेकिन ये भइया जी इस वार गंभीर वीमारी की चपेट में आ गये हैं।

मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की—देखो भइया जी, यह जिद छोड़ दो···पहले भी ऐसी कोशिश कई लोग कर चुके हैं और अब तक ठूंठ के ठूंठ पड़े हैं···कोई चिड़िया भी आकर नहीं बैठती है अब वहां।

लेकिन यदि भइयाजी हमारी यह बात मान लेते तो यह मर्ज ला-इलाज कहलाता ही क्यों। उन्होंने बताया—वे सब गलत ढंग से कोशिश करते रहे, इसलिए भुगत रहे हैं ठूंठ होने की पीड़ा। हमारे साथ ऐसा नहीं होगा। हमने अपनी जड़ें मजबूत बना कर रखी हैं। इस जंगल में जितने भी पतझड़ वाले वृक्ष दिख रहे हैं, चाहे वे सड़क के इस तरफ हों या उस तरफ—सबकी जड़ें अंदर-ही-अंदर आपस में जुड़ी हैं।

मैंने कहा—यह सब छोड़ो भइया। आपके सुंदर शरीर पर यह पतझड़ वाला दृश्य शोभा नहीं देता। समझौता कर लो हाई कमान से।

वे बोले—नहीं। कोई समझौता नहीं हो सकता। हम खुद हाई कमान बनेंगे। यही हमारा अंतिम निर्णय है।

फिर बड़े उत्साह के साथ सुनहरे भविष्य का दर्शन कराने के उद्देश्य से उन्होंने बताना शुरू किया—वह देखो···एक तरफ घने बादल उठ रहे हैं···दूसरी तरफ तेज अंधड़ आ चुका है। उधर दूर जंगल के कोने में आग लग चुकी है। बस···समय आ चुका है। इस हाई कमान के दिन पूरे हो गये···अब हम बनेंगे हाई कमान।

मैं चिंतित हो उठा। मैंने व्यग्रतापूर्वक कहा—भइया, जंगल में जब आग फैलेगी, तूफान आयेगा तो जंगल ही नष्ट हो जायेगा। निश्चित है, आप पर भी प्रभाव पड़ेगा।

उन्होंने प्रतिशोध की दृढ़ भावना से कहा—हम किसी का भला नहीं चाहते। जो नष्ट होता है उसे हो जाने दो। अब अधिक दिनों तक हम ठूंठ बनकर नहीं रह सकते। हमें हाई कमान बनना ही है।

मैं सोच में पड़ गया। जब जंगल ही नहीं रहेगा तो ये हाई कमान बन-कर क्या करेंगे? किस पर बहार लायेंगे? कहां भेजेंगे पतझड़? ये तो बस खुद ही हरियाली से लदे-फंदे इतराते रहना चाहते हैं।

लेकिन जंगल में लगी आग से ये खुद बच पायेंगे तब ना···

पतझड़

लतीफ घोंघी

अपने देश में वजट और पतझड़ आगे-पीछे आते हैं। कभी ऐसा होता है कि उधर वित्तमंत्री ने कोई नया टैक्स लगाया, और इधर पतझड़ ने दरख्त से कहा—अबे ओये···सम्हल जा ··तेरा बाप आ गया···साले मटियामेट करके धर दूंगा।

दरख्त भी जानता है कि उसे साल में एक वार तो झड़ना ही झड़ना है। वह यह भी जानता है कि कितने भी आवेदन वह इस पतझड़ को देगा कि उसकी माली हालत इस साल ठीक नहीं है, कि वह पत्तों से आक्सीजन भी खींच नहीं पाया है, कि राह चलनेवालों को वह छाया भी नहीं दे पाया है या कहेगा कि दादा इस बार कुछ सब्सीडी दे दो; लेकिन पतझड़ जो है वो माननेवाला नहीं है। वह आयेगा और उसे झड़ाकर इस तरह चला जायेगा, जैसे यह उसके नैतिक धर्म में शामिल हो और अपनी सार्थकता सिद्ध करने के लिए उसका ऐसा करना नितांत आवश्यक हो।

इसीलिये इस बार जब दिल्ली, भोपाल से होता हुआ पड़झड़ इस दुबले-पतले दरख्त के पास आकर खड़ा हुआ, तो दरख्त ने आत्मसमर्पण की टोन में कहा—आइये पिताजी, हम कब से आपकी प्रतीक्षा में खड़े हैं··· कहिये तो हम अभी झड़ जायें···या आप कहें तो दो-चार दिन रुक जायें।

होता यह भी है कि अपने देश की चिड़िया अंडे देना भी जानती है। उसकी एक बहुत बुरी आदत यह होती है कि वह तिनके जमा करके घोंसला बनाती है। इस दरख्त पर जो चिड़िया थी वह तिनकों के साथ परिवार नियोजन के पोस्टर का एक टुकड़ा भी ले आई थी, लेकिन इससे क्या फायदा? हरामजादी ने चार अंडे दे दिये एक साथ और फटाफट फोड़

दिये चार बच्चे। मार्च महीने में बच्चे फोड़ेगी तो बच पायेगी पतझड़ से। हां। मैं आपसे ही पूछ रहा हूं। व्यंग्य पढ़ रहे हो और कल के दिन 'जोग-लिखी' में दो लाइन की चिट्ठी धांस दोगे कि लतीफ घोंघी अपनी छवि का ख्याल करें। अरे यार ऐसी-तैसी में गई छवि···हम कहते हैं कि उन बच्चों का क्या होगा जब यह पतझड़ दरख्त के सारे पत्ते झड़ा देगा? क्या घोंसला बच पायेगा? अब तुम व्यंग्य के जागरूक समीक्षक हो तो बताओ व्यंग्य आगे कैसे बनेगा? दरख्त बनकर पतझड़ को पिताजी कह लोगे···मरे साली चिड़िया और मरे साले चिड़िया के बच्चे···उधर पतझड़ गया और इधर तुमने धड़ाधड़ नई कोंपलें उगाकर अपने आपको एडजस्ट कर लिया। तिनकेवाली चिड़िया की बात जिस दिन सोचोगे, तब पता चलेगा गुरु कि व्यंग्य कहां से पैदा होता है।

मैं व्यंग्य को आगे बढ़ाने की सोच ही रहा था कि मेरे एक समीक्षक मित्र आ गये—बोले—बीड़ी पिलाओ यार।

मैंने कहा—हिन्दी समीक्षा की दुर्गति क्यों बना रहे हो? एकदम बीड़ी में उतर गये?

वे बोले—हम उतरे नहीं हैं भइया···हमें उतार दिया है इन व्यापारियों ने···सिगरेट मारकेट से गायब है···बजट आ रहा है ना···

मैंने छोटे राजा का बंडल जेब से निकाला। दो बीड़ियां एक साथ सुलगाकर उसे हवा में लहराया और उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा—तो··· टैक्स लग जायेगा इस साल सिगरेट पर?

—बिल्कुल लगेगा और तबियत से लगेगा···सरकार विकास के काम किससे करेगी देश में? सरकार भी जानती है कि सिगरेट पर कितना भी बड़ा 'स्वास्थ्य के लिए हानिकारक' का लेबल लगा दे, हिन्दुस्तानी आदमी आठ-दस करोड़ दे ही देंगे सरकार को सिगरेट के नाम पर।

—याने कि तुम नकारात्मक सोच वाले हो। मैं कहता हूं कि यह क्यों नहीं सोचते कि तुम अपनी एक सिगरेट से देश में एक पुल बना रहे हो—सूखे खेतों के लिए पांच सिगरेटें फूंक कर सिंचाई योजना तैयार कर रहे हो। व्यापारियों को क्यों गाली देते हो? आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे हैं। मार्च लगेगा तो फल्ली तेल तो बढ़ेगा ही बढ़ेगा। बेचारे अपने बच्चों को

भजिया कैसे खिला पायेंगे ये नहीं सोचते ? जब लेखन में ईमानदारी नहीं रही तो व्यापार में कहां से रहेगी।

जैसी कि हिन्दी समीक्षकों की आदत होती है, वे तुनक गये। बोले—शर्म नहीं आती, अपने को व्यंग्यकार कहते ? व्यवस्था के तलवे चाट रहे हो ? सरकार की वकालत कर रहे हो ? व्यापारियों के पक्षधर हो गये हो ?

उन्होंने मेरे सामने एक साथ कई प्रश्न दाग दिये। यदि उनको छोटे राजा बीड़ी की कृपा से खांसी नहीं आती, तो वे दो-चार और इसी तरह के प्रश्न दागते। सिगरेट पीनेवाले समीक्षकों को यह सुविधा रहती है कि उन्हें खांसी नहीं आती और इसलिये वे धाराप्रवाह हिन्दी लेखकों की रचनाओं पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए धाराप्रवाह बोले जाते हैं। मेरा विचार तो यही है कि हिन्दी के समीक्षकों को बीड़ी ही पीना चाहिए। इससे हिन्दी बेचारी का उद्धार तो होगा ही, हम जैसे कई व्यंग्य लेखक तर जायेंगे।

मैं यह भी जानता था कि अब वे व्यंग्य को विधा मानने पर एक लम्बा भाषण भी देंगे और यह भी बतायेंगे कि मुझे व्यंग्यकार होने के नाते क्या लिखना चाहिये ? ये बात और है कि वे व्यंग्य लिखना नहीं जानते। उनका कहना भी सही है। हिन्दी समीक्षक को क्रिएटिव लेखन से क्या लेना-देना। उसका काम है समीक्षा करना, इसलिये आप लाख सिर पटक लीजिये, वे यह सिद्ध कर देंगे कि आज का व्यंग्य-लेखन नकारात्मक है...शोषित वर्ग का पक्षधर नहीं है, और सबसे अंतिम और अच्छी आदत हिन्दी के समीक्षकों में यह होती है कि वे दो-चार विदेशी लेखकों के नामों का उल्लेख अपनी बातों के दौरान जरूर करते हैं।

बीड़ी का ठस्का बंद हुआ तो वे बोले—स्टेट्स में देखो...सरकार खाने की वस्तुएं अपने देश में बेची जा रही कीमत से कम दाम पर देती है... यहां चावल चार रुपये किलो है तो आप निश्चित मानिये कि अमेरिका में इससे कम दाम में ही मिलेगा...सरकार नहीं चाहती कि नेसेसिटीज़ पर कोई टैक्स लगे...और एक अपनी सरकार है...हम चाहे सूखकर कांटे हो जायें, लेकिन टैक्स लगेगा तो रोजमर्रा की चीजों पर...साल में एक बार झड़ा के रख देती है हमें।

झड़ाने का उल्लेख हुआ तो मुझे याद आया कि पतझड़ पर मैंने जो

व्यंग्य शुरू किया था, वह तो अधूरा ही रह गया है।

मैंने कहा—गुरु···मुझे बताओ कि यह व्यंग्य आगे कैसे बढ़ेगा?

वे बोले—दिखाओ···हम भी देखें कि आखिर तुमने क्या तीर मार दिया है इस व्यंग्य में।

मैंने चार पैरेग्राफ्स जो अभी थोड़ी देर पहले लिखे थे, उनके हाथों में दे दिये। उन्होंने उसे पढ़ा और बोले—यार, एक बीड़ी और पिलाओ।

मैं समझ गया कि बीड़ी के बहाने वे अपना व्यंग्य साहित्य का पांडित्य मुझ पर मारने की भूमिका बना रहे हैं। वे व्यंग्य पर अपनी बात शुरू करने ही वाले थे कि फिर छोटे राजा की कृपा से उन्हें खांसी आ गई। बोले—साली बीड़ी के साथ यही तो दिक्कत है···ऐन वक्त पर गले को खरखराकर पूरी वैचारिकता को नष्ट कर देती है···लेकिन क्या करें, बजटवाले इस देश में इसका कोई विकल्प भी तो नहीं है।

मैंने कहा—मुझे यह बताइये कि इस व्यंग्य को आगे कैसे बढ़ाया जाये? इस चिड़िया पर आकर मेरी कलम अटक गई है।

वे बोले—तुम बेसिकली गलत हो···इस व्यंग्य में तुम्हारे सारे सिम्बल···आई मीन प्रतीक···गलत हैं···अब जो व्यंग्य का ट्रीटमेंट होगा, वह पूरे का पूरा वेग···क्या कहते हैं, उसे···गड्डमड्ड हो जायेगा···इसलिये तुम एक काम करो, इस व्यंग्य को नष्ट कर दो। तुमने जो पतझड़ की फेंटेसी से बात शुरू की है, वह भी पूरी तरह गलत है···पतझड़ को वित्त मंत्रालय से कनेक्ट करना गलत है···और खासकर उस समय यह बिल्कुल गलत हो जाता है, जब दरख्त यह कहता है कि 'पिताजी, कहिये तो हम अभी झड़ जायें'···व्यवस्था के प्रति समर्पण का यह समझौता तुम्हारी लेखकीय प्रतिबद्धता को संदिग्ध कर देता है। हमें संघर्ष करना है इस व्यवस्था से···यह नहीं कि पतझड़ आया तो हम झड़ गये···इसे आगे ही बढ़ाना है तो इस तरह बढ़ाओ कि दरख्त पतझड़ के सामने सीना तानकर खड़ा हो गया···इससे एक वर्ग संघर्ष की थ्योरी तुम्हारे व्यंग्य में स्टेबलिश होगी।

मैंने पूछा—फिर क्या होगा? क्या उसके पत्ते बच जायेंगे इस मार से?

वे बोले—बचें या न बचें यह सोचना लेखक का काम नहीं है

का काम है संघर्ष की भूमिका का निर्माण करना…और रही बात चिड़िया की, तो तुमने परिवार नियोजन के प्रचार की भावना के कारण उसे एक असहाय घरेलू बनाकर रख दिया है…भारतीय नारी के प्रति तुम्हारे व्यंग्य में यह भावना एकदम पुअर है…चिड़िया का काम है चोंच मारना…पत्थर से टकराकर लहूलुहान हो जाना…ये क्या कि तुमने उसे अंडे और बच्चों में उलझा दिया…सार्थक व्यंग्य संवेदना से नहीं बनता…

मैंने पूछा—फिर उन बच्चों का क्या होगा ? इस पतझड़ में क्या होगा उन बच्चों का भविष्य ?

वे बोले—एक बीड़ी और पिलाओ।

मैं समझ गया कि बीड़ी के बहाने फिर वे अपना पांडित्य झाड़ने की भूमिका बनायेंगे और यह पतझड़ अधूरा ही रह जायेगा।

क्रिकेट

लतीफ घोंघी

खान साहब ने घर पर एक बहुत बड़ी टीम खड़ी की और क्रिकेट से संन्यास लेनेवाली मुद्रा में मुझसे बोले—जमाना खराब है भइया। जिन्दगी की इस पिच पर बॉल बहुत टर्न हो रही है, तुमने अपने बल्ले का किनारा सामने किया नहीं कि समझो खतरा है···पैवेलियन में ऐसे जाओगे कि सब कुछ भूल जाओगे। तुम्हारे पीछे चार-चार खिलाड़ी खड़े हैं···वे छोड़ेंगे नहीं तुम्हें···समझे कुछ ?

मैंने खान साहब की ओर देखा। उमर उनकी पचास के आस-पास थी। दाढ़ी करीने से ट्रिम की हुई थी। सर पर अजमेरी टोपी। दिखने में पक्के नमाजी लगते थे। पेशानी पर सिजदे के निशान। मैंने कहा—चचा, अब तो आप हज कर आइये।

उन्होंने एक बैट्समैन की तरह मुहल्ले में चारों ओर अपनी नज़रें घुमाईं, जैसे देखना चाहते हों कि उन्होंने बातों का ड्राइव मारा तो किधर से फील्डर दौड़ेगा। फिर मेरी ओर आहिस्ता से आए। कुछ इसी तरह कि कपिल मनिन्दर के पास आता है। कहने लगे—हम तो फॉलो आन से बच जाएं यही बहुत है। चार लड़कियां और निपट जाएं तो अपना हज हो गया समझो।

मैंने चुटकी लेते हुए कहा—खान साहब, कुछ मेडन ओवर फेंक लिए होते तो आज यह नौबत नहीं आती।

वे बोले—खुदा बड़ा मेहरबान है···सबका जोड़ा लिखा है···कल फारूक इंजीनियर देख गये हैं लड़की को।

मैंने कहा—कौन से इंजीनियर ? वे बोले—अरे वही जो आयल मिल

में फोरमैन हूं'''अपनी जात में तो इसी टाइप के इंजीनियर मिलेंगे'''
लड़की तो पसन्द आ गई है, लेकिन मैंने कहा कि जनाव पहले आप टास कर लीजिए कि आप मेरी दुख्तर से निकाह करेंगे या टी० वी० और फ्रिज से।

फिर उन्होंने जेव से दो मुंहवाली डिब्बी निकाली। एक मुंह से दाहिने हाथ के अंगूठे से चूना निकाला और दूसरा मुंह खोलकर वीड़ी की तम्वाकू अपनी वाई हथेली पर मलते हुए वोले—इसीलिए कहता हूं कि निकाह जो है, वह वन डे क्रिकेट की चीज नहीं है कि जितने अधिक से अधिक रन चाहो वटोर लो। इतमीनान रखो। कयामत के दिन जब अम्पायर उंगली उठाएगा, तो क्या जवाव दोगे? कुछ तो खुदा का खौफ़ रखो दिल में। किस हदीस में लिखा है कि टी० वी० या स्कूटर के विना निकाह जायज नहीं है। लेकिन कहता हूं न कि अपना ही पिच जब खराव हो तो किसे दोष दें। जमाने की हवा है साहव! मियां भाई भी इस मामले में किसी से पीछे कैसे रह सकते हैं।

खान साहव ने हथेली पर रखी तम्वाकू में लगे चूने को ताली मारकर साफ किया और तर्जनी उंगली से तम्वाकू की डंठलें साफ करते हुए वोले—वरखुरदार'''हमारे जमाने में हम तो लांग आन में दूर खड़े थे और मरहूम वालिद ने डीप थर्डमैन की पोजीशन में खड़े-खड़े पसन्द कर ली लड़की'''हम मैदान में इतनी दूर खड़े थे कि देखा ही नहीं कि शर्मिला से मिलती-जुलती है या नहीं'''हम तो क्रिकेट की नवावी में मस्त थे। तीन जोड़े कपड़े में निपट गया निकाह। ऐसा लगा जैसे वेस्टइंडीज छिहत्तर रन में ऑल डाउन हो गई हो, लेकिन कहते हैं न कि खुदा वड़ा रहमवाला है। आज भी वेचारी घर चला रही है। हम इधर वाहर खाट पर पड़े हैं और वो है कि पैवेलियन से वाहर आने को तैयार नहीं। और आज देखो अपने वालों को। शादी हुए दो दिन भी नहीं हुए कि घुमा रहे हैं स्कूटर पर पीछे विठा-कर।

खान साहव थोड़ी देर के लिए रुके। रुकना जरूरी भी था। उन्होंने तम्वाकू की चुटकी निचले होंठ में दवाई और अपना मुंह वन्द किया। मुझे लगा कि विजली की खरावी से कमेंट्री कुछ देर के लिए वन्द हो गई है। खान साहव नगरपालिका की नाली तक गये और पिच्च से तम्वाकू की एक

पीक मारकर इस तरह लौटे, जैसे उन्होंने एक चिकि सिंगल निकाल लिया हो।

मैंने कहा—चचा, आजकल क्रिकेट बहुत एडवांस हो गया है…फास्ट खेल ही अच्छा माना जाता है…टुचुक-टुचुक सिंगल बनाने के दिन लद गये। दमखम हो तो आओ मैदान में…आठ-दस चौके लगाओ…दो-तीन सिक्स मारो और लौट जाओ वापस। फास्ट नहीं रहोगे तो पिछड़ जाओगे …पचास ओवर खेलकर बीस रन बनाने के दिन नहीं रहे। विजय हजारे
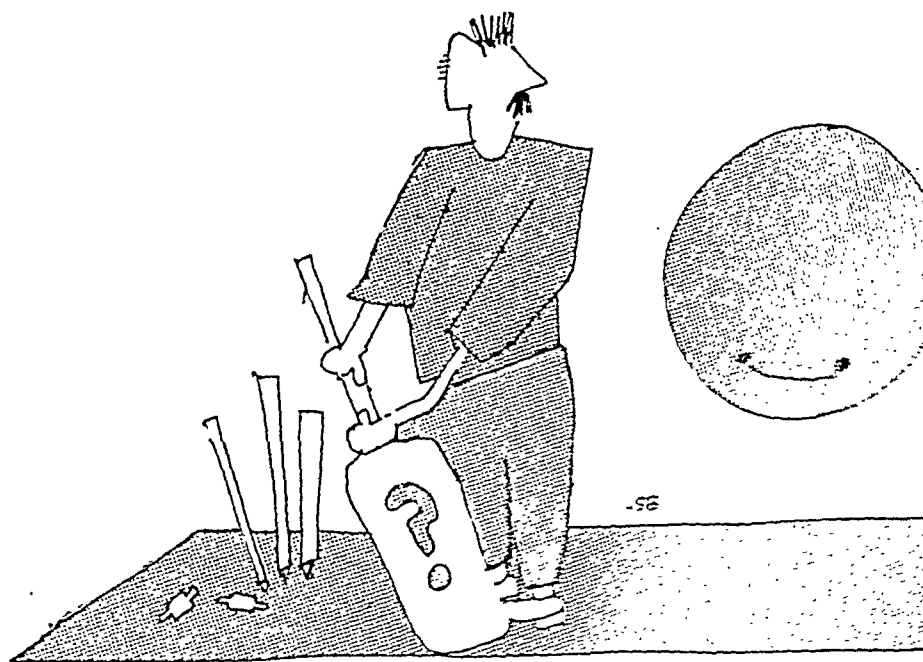
और वीनू मांकड़ वाले दिन नहीं हैं [illegible]!

खान साहब जरा तन गये। [illegible]
और दूसरा यह कि हमने पुराने क्रिकेट [illegible]
दिया। वे बोले—फास्ट क्रिकेट [illegible]
तब है जब पिच पर देर तक [illegible]
बाल इसी तरह सफेद नहीं किए हैं… [illegible]
रवि शास्त्री बने रहोगे, [illegible]

मैंने कहा—टीम के [illegible]

ठीक-ठाक रहे और बोर्ड वाले खुश रहें।

वे बोले—यही तो बुराई है तुम नये लोगों में। जब तक टीम के साथ अच्छे तालमेल रखोगे, तुम्हारा वजूद बना रहेगा बेटे। हमारी टीम का मनोबल तो वैसे ही बहुत गिरा हुआ है। चार दिन की चांदनी और फिर अंधेरी रात।

खान साहब की फ़िलासफ़ी मेरी समझ में नहीं आई। मैंने पूछा—चचा, हम तो वन-डे वाले हैं। शाम तक हार-जीत हो ही जाए। पांच दिनों तक हम नहीं रह सकते। अब आप ही बताइए कि डिफेंसिव खेल खेलते रहेंगे तो इन सीमित ओवरों में न अपनी पहचान बना पाएंगे और न ही टीम को खतरे से बाहर निकाल सकेंगे।

इस बार मुझे लगा कि मेरी फ़िलासफ़ी खान साहब को समझ में नहीं आई। वे बोले—बेटे, हम तो इतना जानते हैं कि क्रिकेट जो है धीरज का खेल है। क्रिकेट है तो इसे क्रिकेट की तरह खेलो। गिल्ली-डंडे की तरह खेलकर क्रिकेट को नीचे मत गिराओ। बड़ी तहजीब का खेल है। आपसी समझ का खेल है। टीम का खेल है। ग्यारह जात के खिलाड़ी होते हैं टीम में। बड़ी जिम्मेदारी का काम है। हिन्दू भी है, मुसलमान भी हैं और सिख भी हैं। क्रिकेट में कोई हिन्दू-मुसलमान नहीं होता। क्रिकेट में टीम के लिए सबसे बड़ी चीज होती है, बल्लेबाजों की पार्टनरशिप। हमने तो यही सीखा है जिन्दगी में। चाहे जब्बार मियां हों या मनसुख भाई, जब भी हमारे साथ रहे, हमने यही समझकर खेला कि हम अपनी टीम के लिए ही खेल रहे हैं, हमें आज भी अपनी पुरानी टीम पर नाज़ है।

मैंने कहा—चचा, आप तो कह रहे थे कि जिन्दगी की पिच पर बॉल बहुत टर्न ले रही है।

वे बोले—सही कहता हूं बेटे! स्थितियां इतनी तेजी से बदल रही हैं कि कब क्या हो जाएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। किस ट्रेन के नीचे बम रखा है और किस बस को कब और कहां रोक लिया जाएगा, खुदा ही जानता है। हम तो अल्लाह से यही दुआ माँगते हैं कि परवरदिगार हमें नेकी के रास्ते पर चला…हमारे दिलों में भाईचारा और मोहब्बत पैदा कर। इस देश की मिट्टी ही हमारे लिए जन्नत है।

खान साहब का सूफियाना अन्दाज देखकर मुझे विश्वास नहीं हो रहा कि वे वही खान साहब हैं, जो थोड़ी देर पहले मुस्लिम समाज में बढ़ते हुए दहेज की समस्या से परेशान थे। मुझे लगा कि खान साहब जिन्दगी के क्रिकेट के असली खिलाड़ी हैं जिन्होंने पिच की समझ के साथ-साथ क्रिकेट को भी समझा है। जो खिलाड़ी टीम के लिए अपने छोटे-मोटे फायदे और नुकसान को भूल जाए, उससे बड़ी कुर्बानी क्रिकेट के लिए और कुछ नहीं हो सकती।

खान साहब भूल गये कि उन्हें अपनी बेटी का निकाह करना है। खान साहब भूल गये कि टॉस के लिए उछाले गये सिक्के के एक तरफ टी० वी० और दूसरी तरफ फ्रिज है, खान साहब भूल गये कि अभी उन्हें चार लड़कियों को निपटाना है।

उन्हें याद रही तो केवल इस मैदान की मिट्टी।

उन्होंने सिर पर रखी अजमेरी टोपी को ठीक किया और एक जिम्मेदार बैट्समैन की तरह आगे बढ़ गये।

क्रिकेट

ईश्वर शर्मा

इस देश में राजनीति के बाद यदि कोई लोकप्रिय है तो वह है—क्रिकेट। मैं जब राजनीति की ओर ध्यान देता हूं तो लगता है क्रिकेट खेला जा रहा है और जब क्रिकेट की ओर नज़र डालता हूं तो महसूस होता है कि राजनीति चल रही है।

शहर में, गांव में, जिधर भी निकल जाइए, हर जगह युवक क्रिकेट खेलता हुआ मिलेगा। युवा शक्ति क्रिकेट में केंद्रित हो गई है। अब युवा शक्ति की भटकने की संभावना नहीं रही। अन्य क्षेत्रों में उनकी रचनात्मकता का भय भी जाता रहा।

जगह-जगह छोटे बालक क्रिकेट खेलते मिलते हैं। बांटी, भौंरा, गिल्ली-डंडा सब गायब होकर क्रिकेट में समा गए। टेलीविज़न ने क्रिकेट को संक्रामक रोग की तरह फैला दिया। पहले रेडियो पर कमेंट्री सुन लेते थे, तसल्ली हो जाती थी। बड़ी उम्र के लोग खेल रहे हैं। थोड़ी देर खड़े होकर देख लिया और अपने काम पर लग गए। अब तो टी० वी० पर देख-देखकर क्रिकेट की एक-एक अदाकारी समझ में आने लगी है।

स्टम्प नहीं मिला तो बेशरम की आड़ी-टेढ़ी तीन डगालें तोड़कर मिट्टी में दबा लीं और शुरू हो गए। बैट नहीं मिला तो किसी के घर का कपड़े कूटने का कुटेला ले आए और लग गए लाइन पर। खेल प्रारम्भ। पीछे से फटी पैंट वाला एक बालक बॉलिंग करने खड़ा है। हाफ पैंट की हालत खस्ता है. लेकिन रबर की गेंद को बार-बार थूक लगाकर सामने की ओर रगड़कर चमकाने की कोशिश में लगा है। एक बालक जो अपनी आस्तीन की बांह से लगातार रेमट पोंछ रहा है, शायद टीम का कप्तान

है। वह फील्ड अरेंजमेंट में लगा है। किसी को पास बुला रहा है तो किसी को पीछे भेज रहा है। फील्ड सजाने के बाद बॉलर के पास पहुंचकर उसे समझा रहा है—लेग स्पिन फेंकना।

इमली भांठा ऐंड पर बैट्समैन तैयार खड़ा है। लगता है जैसे बिस्तर से सीधे उठकर आ गया है। आंख में चिपड़ा स्थायी रूप से जमा है। मुंह के किनारों पर लार बहने के निशान साफ दिखाई पड़ रहे हैं। बाल बिखरे हुए हैं। वह घूम-घूमकर फील्ड अरेंजमेंट का मुआयना कर रहा है। पिच कंकर-मिट्टीवाली जमीन पर बनी है। भारी मिट्टी जमी है, लेकिन बैट्समैन किसी टेस्ट प्लेयर की तरह पापिंग-क्रीज से बाहर आकर बैट से मिट्टी को ठकठकाकर जमा रहा है।

बॉलर ने बॉल फेंकी। बैट्समैन ने पूरा जोर लगाकर ऐसा बल्ला घुमाया कि वह खुद दो चक्कर घूम गया। बॉल थोड़ी दूर गई। बैट्समैन ने रन के लिए दौड़ लगाई। आधे रास्ते में ही उसकी पैंट सरककर नीचे आ गई लेकिन एक हाथ से पैंट सँभाले हुए उसने रन पूरा कर लिया। अगली बॉल फेंकने को बॉलर फिर तैयार। दोनों बैट्समैन पिच के बीचोबीच आकर 'मिड विकेट कान्फ्रेंस' में लग गए। एक पुरानी कहावत याद आती है—'फटी कमीज अंग्रेजी बाजा'।

टेलीविजन का ही कमाल है जिसने बच्चे-बच्चे को क्रिकेट खेलने का सही ढंग समझा दिया। रहने-बोलने, पहनने-ओढ़ने का सलीका भले ही न आए, क्रिकेट खेलने का तरीका तो सीख ही लिया। बनियान-लुंगी पहने हुए लोग क्रिकेट खेल रहे हैं। ये बालक अपने दादा जी का नाम या अपने पिताजी की उम्र और अपनी खुद की जन्म-तारीख भले ही न जानते हों, लेकिन किस क्रिकेट प्लेयर ने कितने रन बनाए, शतक बनाए, कितने विकेट लिए, कितने टेस्ट खेले, यह अवश्य जानते हैं? उनके सामने क्रिकेट की चकाचौंध इतनी ज्यादा हो गई है, कि बाकी कुछ नजर नहीं आता। यश, धन, पद सबकी प्राप्ति का शार्टकट उपाय क्रिकेट दिखाई पड़ने लगा है। किसी भी बालक से पूछकर देखिए, कोई गांधी, नेहरू, सुभाष, भाभा नहीं बनना चाहता, सबकी इच्छा गावस्कर, कपिल, बाथम, रिचर्ड्स बनने की है। पिछले चुनाव में फिल्मी कलाकारों को टिकट दी गई थी। अब

क्रिकेटरों को लाइन में लगाया जाए तो कोई ताज्जुब नहीं है। वैसे भी यह मूर्तिपूजक देश है और ये क्रिकेटर अभी उगते सूरज हैं।

पहले आपातकाल की स्थिति युद्ध के समय दिखाई पड़ती थी। अब क्रिकेट के समय दिखाई पड़ती है। पूरा राष्ट्र अपने व्यक्तिगत और दलगत हितों को भूलकर एक दिखाई पड़ता है। भावनात्मक एकता के शत-प्रतिशत लक्षण दिखाई देने लगे हैं। व्यापारी व्यापार छोड़ देता है। अफसर-बाबू दफ्तर छोड़ देते हैं। छात्र स्कूल छोड़ देते हैं। घर में औरतें चौका-बर्तन छोड़ देती हैं। राष्ट्रहित सर्वोपरि हो जाता है। सबके मन में दुआ होती है कि गावस्कर एक सेंचुरी और बना ले। ऐसी अटूट एकता तो देश पर आक्रमण के समय भी दिखाई नहीं पड़ती।

कपिल देव बॉलिंग करने के पहले फील्ड का मुआयना कर रहे हैं। गावस्कर अब बुढ़ा गए हैं, लेकिन उन्हें एकदम से निकाला भी नहीं जा सकता। पूरे देश में आंदोलन उठ खड़े होंगे। कप्तान कपिलदेव ने उन्हें स्लिप पर भेज दिया है। जाओ, एक कोने में चुपचाप खड़े रहो। गावस्कर को ऐसी स्थिति में देखकर बरबस ही कमलापति त्रिपाठी याद हो उठते हैं। खड़े रहो स्लिप में। रवि शास्त्री को लांग आन में दूर भेज दिया गया है बिल्कुल विद्याचरण शुक्ल की तरह। गावस्कर ग्रुप के बम्बइया खिलाड़ी हैं। कपिल की कप्तानी को उनसे खतरा बना रहता है। फारवर्ड शार्ट लेग पर श्रीकांत की तरह अर्जुनसिंह को बुला लिया गया है। अरुण नेहरू की तरह वेंगसरकर को बाउन्ड्री लाइन पर भेज दिया गया है। मदनलाल जिन्हें टीम के बाहर कर दिया गया था, कप्तान के चहेते होने के कारण शरद पवार की तरह उनकी पुनः टीम में वापसी हो गई है। शिवराम कृष्णन को सीताराम केसरी की तरह बारहवां खिलाड़ी बना दिया गया है। केवल चाय-पानी की व्यवस्था करते रहो। संदीप पाटिल को इस बेदर्दी के साथ टीम से निकाला गया कि प्रकाश चन्द्र सेठी की तरह उसने संन्यास की घोषणा कर दी।

कपिल देव बराबर फील्डिंग की ओर ध्यान बनाये हुए हैं। फील्डरों को जल्दी-जल्दी चेंज कर रहे हैं। कोई भी एक जगह स्थायी न हो सके। एक ही ओवर में दो-तीन बार फील्डरों की स्थिति बदल देते हैं।

बल्ला थामे हुए बैट्समैन विपक्षी नेता-सा महसूस होता है। कपिल देव के ओवर की हर बॉल में वेरायटी है। बॉल के रूप में वे एक नया नारा फेंकते हैं। विपक्षी बल्लेबाज परेशान हैं। समझ में नहीं आता उसे किस तरह खेलें। रन बनाना तो दूर रहा, बमुश्किल तमाम अपना विकेट बचाने में लगे हैं। हर बॉल, चाहे लूज बॉल ही क्यों न हो फील्डर ताली बजाकर बॉलिंग की प्रशंसा कर रहे हैं। विपक्षी बल्लेबाज बार-बार मिड विकेट कान्फ्रेंस करते हैं, लेकिन गोलन्दाजी का सामना करने में निरन्तर परेशानी का अनुभव कर रहे हैं। बल्लेबाजों का मनोबल तोड़ने के लिए कपिल देव ने एक शार्ट लेग और लगा दिया। ऐसा लगा, मानो काश्मीर में फारूक अब्दुल्ला को मुख्य-मंत्री पद सौंपकर विपक्षी एकता प्रयासों को ध्वस्त कर दिया है।

मैंने कहा था न, जब क्रिकेट देखता हूं तो मुझे राजनीति की झलक दिखाई पड़ने लगती है, और जब राजनीति पर नजर दौड़ाता हूं तो क्रिकेट का मैदान दिखने लगता है। नेताओं में असंतोष है लेकिन चाहते हैं ओप-निंग कोई और करे। हम तो क्रिकेट की रक्षा के लिए पीछे विकेटकीपर की तरह खड़े रहेंगे। कोई अपनी सही परफारमेंस दिखाना नहीं चाहता। हार की पूरी जिम्मेदारी कप्तान पर सौंपकर उसे तीर का निशाना बनाना चाहते हैं। कभी पंजाब की बाउंसर फेंकी जाती है, तो कभी गोरखालैंड की यार्कर। असम की गुगली अभी ठीक से खेल भी नहीं पाए कि नागालैंड का लेग-स्पिन अटैक शुरू हो गया। इन सब वारों से कप्तान ले-देकर बच रहा है तो साथी बैट्समैन उसे रन आउट कराने की फिराक में हैं।

पहले वह समय था जब सत्ता की बिसात शतरंज के मोहरों के आधार पर बिछाई जाती थी। अब सोचने-समझने और चाल चलने का उतना लम्बा अवसर तो मिलता नहीं, इसलिए सत्ता के खेल क्रिकेट की तरह खेले जाते हैं। जिसे बलि का बकरा बनाना होता है, उसे टीम के हित की दुहाई नाइट-वाचमैन की तरह मैदान पर भेज दिया जाता है। किसी बल्लेबाज को आगे नहीं बढ़ने देना है तो शतक के करीब होने के बावजूद पारी समाप्ति की घोषणा कर दी जाती है।

यही कारण है कि इस देश में राजनीति के बाद क्रिकेट इतना अधिक लोकप्रिय हो पाया है। राजनीति सीखना हो तो क्रिकेट खेलना प्रारंभ कर

दो। क्रिकेट राजनीति की प्राथमिक पाठशाला है। जहां सिखाया जाता है—अपना विकेट बचाये रखो, भले ही टीम हार जाये। खुद विकेट पर खड़े रहो, लोगों को दौड़ाते रहो। समय पड़े तो साथी को रन आउट करा दो, लेकिन खुद मत हटो।

क्रिकेट जिंदगी की स्थितियों का चिंतन भी दर्शाता है। बुराइयों को बॉलर अपनी पूरी दम-खम के साथ बॉलिंग करता है। हम किसी भांति बचते-बचाते रहते हैं। बॉल को अपने से दूर बनाये रखते हैं। मेहनत करके एक-एक रन एकत्रित करते हैं। विवशताओं के फील्डर हमें कैच आउट करने के लिए घेरे खड़े हुए हैं। बड़े परिश्रम के बाद जब हम अच्छाइयों के शतक के समीप पहुंचते हैं, ठीक तभी समय का अम्पायर हमें रन आउट घोषित कर देता है।

लेकिन अभी समय है। अभी हम रन आउट नहीं हुए हैं। आवश्यकता है, केवल आउट होने के पहले एक बड़ा स्कोर खड़ा कर देने की।

पूंछ

ईश्वर शर्मा

वह तो अच्छा हुआ कि हनुमान जी की पूंछ थी, नहीं तो वे लंका कैसे जलाते? अभी भी कुछ लोग कहीं-कहीं आग लगाते रहते हैं और हनुमान परम्परा कायम है। आग लगाने में पूंछ का ही इस्तेमाल किया जा रहा है।

अब आप कहेंगे कि आदमी की पूंछ कहां से आ गई? तो भाई साहब, आज के जमाने में जिस आदमी की पूंछ नहीं, वह आदमी नहीं जानवर कहलाता है। समूचा संघर्ष ही पूंछ लगाने का है। जितनी लम्बी पूंछ होती है, उतना ही अधिक सम्मान होता है।

बड़ी भागमभाग मची है। कोई भी आदमी बिना पूंछ का रहना नहीं चाहता। चाहे जहां से मिले, जैसे भी मिले बस एक पूंछ मिल जाये। लम्बी न सही छोटी ही मिल जाये। बस एक बार लग तो जाये पीछे। आग तो हम लगा ही लेंगे। जिनकी लग गई अब वे चाहते हैं दूसरों की न लगने पाये। एक-दूसरे की पूंछ काटने की धक्का-मुक्की भी जोरों पर है।

हमारे नगर में एक नेताजी हैं। स्वयं को काफी प्रतिभाशाली मानते हैं। वैसे नगर में उनके प्रतिभाशाली होने का विश्वास कुछ गिने-चुने लोगों को ही है। वह भी इसलिए कि उनका काम ही कुछ लोगों को प्रतिभाशाली बनाये रखना है। इससे उनकी दिन और रात चर्या अच्छी तरह कट जाती है। अब इस नेताजी को नहीं मानेंगे तो किसी और भइयाजी को मानना पड़ेगा।

ये नेताजी कई चौखटों पर अपनी नाक रगड़ चुके हैं। इतनी बार रगड़ चुके हैं कि नाक की तो बात क्या चौखटों पर भी निशान पड़ गये हैं।

एक दिन फुरसत से मेरी उनसे मुलाकात हो गई। मैंने पूछा—क्या

बात है नेताजी, आप तो नाक बिल्कुल हाथ में लिये फिरते हो? मौका देखा नहीं कि रगड़ना शुरू। आखिर चाहते क्या हो?

नेताजी ने आज तक जितनी चौखटों पर अपनी नाक रगड़ी थी, उन चौखटवालों में से किसी ने ऐसी बात उनसे नहीं पूछी थी। पूछी होती तो अब तक नाक रगड़ना बंद ही नहीं हो जाता। मेरा सवाल सुनते ही वे थोड़ा संजीदा हो उठे। अपना दाहिना हाथ मेरे कन्धे पर रखकर बोले—कभी तो हमारी भी पूंछ लग जायेगी, इसी उम्मीद में नाक रगड़ने में ही पूरी उम्र बिता दी, लेकिन अभी तक इच्छा पूरी नहीं हुई है।

नेताजी का जवाब मुझे माडर्न पेंटिंग-सा लगा। इच्छा कर रहे हैं पूंछ की और रगड़ रहे हैं नाक। अब मैंने नेताजी को ही रगड़ने के लिहाज से पूछा—लेकिन नाक रगड़ने से पूंछ का क्या संबंध? पूंछ चाहिये तो लड़ो-भिड़ो, मेहनत करो। पैसा खर्च करो और जैसी चाहिए वैसी पूंछ खरीद-कर लगा लो।

मेरी इस बात को नेताजी ने आक्षेप समझ लिया। उन्हें संभवतः ऐसा महसूस हुआ, मानो मैं उन्हें राजनीति सिखा रहा हूं। इस बार उन्होंने जरा तेज स्वर में कहा—पूरी उम्र इसी लाइन में गुजर गई। क्या मैं नहीं समझता कि पूंछ कैसे मिल सकती है? लड़कर देख लिया। मारकर व मार खाकर भी देख लिया। पैसा फूंककर भी देख लिया। केवल इन सबसे पूंछ नहीं मिलती। पूंछ के लिए नाक रगड़ना जरूरी है। नाक बचाकर रखने से भी पूंछ नहीं मिलती। कभी नाक रगड़नी पड़ती है। कभी नीची रखनी पड़ती है और कभी कटानी पड़ती है। यदि पूंछ चाहिए तो यह सब करना पड़ता है।

नेताजी की बात से मैं प्रभावित हुआ। मुझे बिना मेहनत और अनुभव के ही ज्ञान प्राप्त हो गया मैंने कहा—इस तरह तो यह काफी महंगा सौदा है। नाक कटाओ और पूंछ लगाओ आंदोलन में आपका अच्छा योग-दान दिखता है।

नेताजी शायद अपने अनुभव का निचोड़ सुनाने के मूड में आ गये थे। उन्होंने कहा—अरे कैसा महंगा सौदा? जिन्होंने तमाशा अंदर घुसकर नहीं देखा है, वे ही ऐसा समझते हैं। एक बार किसी तरह पूंछ लगने भर की

देर होती है, फिर तो चेहरे पर कटी नाक की जगह लम्बी नाक दिखने लगती है, और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि चेहरे पर इतनी नाकें निकल आती हैं कि उनके पीछे असली चेहरा ही छुप जाता है।

नये ज्ञान की बातों में मेरी भी दिलचस्पी बढ़ने लगी है। मैंने नेताजी को कुरेदा—लेकिन इतनी सारी नाक का क्या होता है?

नेताजी ने बताया—होता क्या है···रोज दो-चार नाक कटती रहती हैं।

—जब दो-चार नाक कटती हैं, तो बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता होगा?
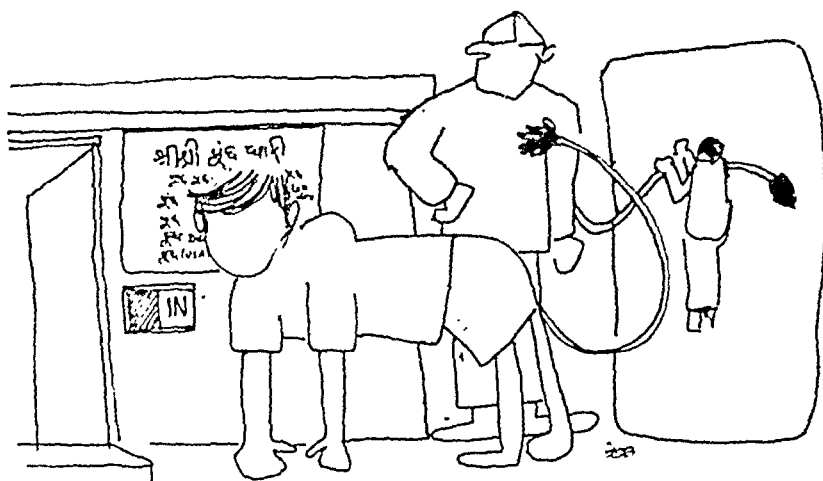
—परेशानी किस बात की। बस पूंछ भर सलामत रहे। दो-चार नाक तो पूंछ की कृपा से ही उगती रहती हैं।

नेताजी की बातों से मैं गड्डमड्ड होकर रह गया। उन्होंने जो समीकरण समझाया मैं समझता हूं गणित का प्रकांड विद्वान भी उसे सही ढंग से हल नहीं कर सकेगा। उनके अनुसार पूंछ के लिए नाक कटाओ और नाक के लिए पूंछ लगाओ। बड़ी उलझी-उलझी-सी बात लगी।

इस रहस्यवाद में न उलझकर मैंने नेताजी से पूछा— पूंछ आखिर पूंछ होती है। जब चेहरे पर नाक ही उगाना है तो फिर छोटी और लम्बी पूंछ का झगड़ा क्यों?

इतनी देर में नेताजी समझ चुके थे कि मैं इन सब मामलों में

नौसिखिया हूं। वोले—जितनी लम्वी पूंछ होगी, चेहरे पर उतनी ही लम्वी नाक उगेगी। यही नियम है और फिर लम्वी पूंछ होने से फायदा यह होता है कि नाक पर मक्खी नहीं वैठने पाती। पूंछ उसे उड़ा देती है।

"पूंछ मक्खी उड़ाने का काम करती है" यह वात मुझ जैसे अनाड़ी आदमी की भी एकदम समझ में आ गई। लेकिन अभी मेरी बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं हुई थी कि मैं यह समझ पाता कि किस वात को कहां कहा जाये और कहां मौन रखा जाए।

मैंने कहा—यह वात आपने ठीक वताई। मैंने कई जानवर देखे हैं, जो अपनी पूंछ से मक्खियां भगाते रहते हैं···शरीर पर उन्हें वैठने ही नहीं देते।

नेताजी इस बार थोड़ा खिसिया गये। वोले—क्या वेवकूफ जैसी वात करते हो। मैं जानवरों की नहीं आदमियों की वात कर रहा हूं।

नेताजी का राजनीतिक तेवर देखकर मैं थोड़ी देर के लिए सहम गया। शायद मैं गलत मौके पर सही या फिर सही मौके पर कोई गलत वात कह गया था। मैंने डर के मारे इस सन्दर्भ को वदलते हुए पौराणिक सन्दर्भ पर आते हुए कहा—हनुमान जी ने तो अपनी पूंछ से आग लगाकर खूव यश लूटा है। वे तो इसी कारण स्थापित हो गये हैं।

नेताजी ने वताया—जिनकी पूंछ लग जाती है, वे सब यही काम करते हैं।

मैंने कहा—लेकिन हनुमान जी ने तो लंका में आग लगाई थी···ये पूंछ वाले कहां आग लगा रहे हैं?

वे वोले—इनके लिए पूरा देश लंका है।

—ये देश में आग क्यों लगा रहे हैं?

—पूंछ लग गई है यह वताने के लिए।

—वड़ी विचित्र वात है। जव पूंछ लग ही गई है तो लोग आपसे आप जान जाएंगे। इसमें वताने की क्या वात है और आग लगाने की क्या जरूरत है भला?

नेताजी थोड़ा गम्भीर होकर वोले—इस देश में विना आग लगाए किसी पूंछ वाले की पहचान नहीं वनती। कई पूंछ वाले हैं, जो लम्वे समय

से बैठे हुए हैं। जिन लोगों ने इधर पूंछ लगी और उधर आग लगाना शुरू कर दिया, उन्हें पूरा देश जानने लगा है। जिसकी जितनी लम्बी पूंछ होती है, वह उतनी ही दूरी से आग लगाता है और लपटों से उतना ही दूर रहता है।

यह कहते हुए नेताजी पीछे में कुछ टटोलते भी जा रहे थे। उस वक्त तो मेरा ध्यान उस ओर नहीं गया लेकिन जब वे मुड़कर जाने लगे तो ध्यान देने पर मैंने देखा कि नेताजी के पीछे एक बहुत छोटी पूंछ लगी है, जिसे वे खींच-खींचकर लम्बा करने का प्रयास कर रहे हैं।

नेताजी के जाते ही मैं भी पलटकर अपनी राह जाने लगा। रास्ते में मुझे एक कुत्ता दिखाई पड़ा जिसकी पूंछ कटी हुई थी।

मैंने उससे पूछा—क्यों श्रीमान् जी, पूंछ कटाकर कहां जा रहे हैं आप ?

वह बोला—स्साले असभ्य कुत्तों की भीड़ में अलग पहचान बनाने के लिए पूंछ कटाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया था।

जिस बात को मैं नेताजी से इतनी लम्बी बहस के बाद भी नहीं समझ सका था, केवल इस एक वाक्य में ही मेरी समझ में आ गई। मुझे अच्छी तरह समझ में आ गया था कि कौन क्यों पूंछ लगाता है और कौन क्यों पूंछ कटाता है।

पूंछ

लतीफ घोंघी

पूंछ और पोंगली की चर्चा आदिकाल से होती रही है। दोनों के वीच भले ही मधुर सम्वन्धों का उल्लेख न मिलता हो, लेकिन व्यवस्था में पूंछ सीधी करने का शाश्वत प्रश्न हमेशा खड़ा होता है और पोंगली जैसी पावरफुल वस्तु का उपयोग वीरगाथा काल से आपातकाल तक होता रहा है। यही कारण है कि आदिकाल से इस युग तक पोंगली का अस्तित्व वना हुआ है। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि पूंछ सीधी करने की कोशिश में कोई-कोई पोंगली टेढ़ी भी हो जाती है, लेकिन ऐसे उल्लेख वहुत कम मिले हैं। हां, यह उल्लेख जरूर मिलता है कि पूंछ जव तक पोंगली में रहती है, तभी तक सीधी रहती है और पोंगली से वाहर आते ही वह फिर टेढ़ी हो जाती है। यदि यह आदत भी पूंछ में न रहे तो उसे पूंछ कहना ही वेकार है। पूंछ दी ही इसलिए जाती है कि वह टेढ़ी रहे।

यह उस जंगल की कथा है जो चालीस साल पहले आजाद हुआ था, जैसा कि हर जंगल में होता है, इस जंगल में भी एक राजा था। यह जंगल लगभग प्रजातांत्रिक टाइप का जंगल था और इस जंगल के जानवर पूंछ वाले ही थे। हर पांच साल के वाद राजा का चुनाव भी होता था। हर जानवर पूंछ हिलाता हुआ पोलिंग वूथ में जाता, और अपने लिए राजा चुनता था। जव लगभग यह तय हो गया कि टेढ़ी पूंछ ही इस जंगल का राजा चुनती है, तो कई जानवरों ने प्लास्टिक सर्जरी से अपनी पूंछें टेढ़ी करवा लीं। आजादी के वाद जंगल में सर्जन भी वढ़ गये थे। फिर हुआ यह कि पूंछ भी दो तरह की होने लगी। एक तो विलकुल टेढ़ी स्प्रिंग की तरह। तान के सीधी करो और जैसे ही हाथ छोड़ा, फटाक से फिर टेढ़ी। कुछ

भविष्यवक्ताओं ने और ज्योतिष-शास्त्र की नॉलेज रखने वालों ने यह सिद्ध कर दिया कि इस तरह की पूंछ केवल नेतृत्व करने वालों में हो पायी जाती है। इसके बाद जो दूसरी तरह की पूंछ होती थी वह सामान्य पूंछ कहलाती थी। इसका एक विशेष गुण हिलने का होता था। जब देखो तब हिल रही है। जिसके सामने बिठा दो उसके सामने ही हिलने लगे। यह भी पता नहीं चल पाता था कि वे जी रहे हैं या केवल पूंछ ही हिला रहे हैं।

लेकिन विद्वानों का कहना है कि सबके दिन फिरते हैं। ऐसी पूंछ वालों के दिन भी फिरे और पूंछ लहर ऐसी चली कि वे पूंछ हिलाते-हिलाते राजा ही बन गये। उधर राजा बने और पूंछ हिलाना आपसे आप बन्द हो गया। जिनकी इसके बाद भी हिलती रही, वे तो अनाप-शनाप खर्च करवाकर अपनी पूंछ की स्थिति ठीक करने में ही लगे रहे। कइयों ने तो अपनी पूंछ उखड़वाकर दूसरी पूंछ ही फिट करवा ली थी। लेकिन विद्वानों का आगे चलकर ऐसा भी कहना हुआ कि चार दिन की चांदनी और फिर अंधेरी रात। कुछ विद्वान यह भी कह गये कि होनी को कोई नहीं टाल सकता। जब विद्वान नहीं टाल सके तो फिर पूंछ वालों की क्या हिम्मत हो सकती थी कि वे होनी को रोककर रखें और कहें—होनी जी, क्या आप इस पूंछ की खातिर टल नहीं सकतीं?

यानी कि फिर जंगल में अंधेरी रात हो गई। चार दिन की चांदनी में, जिसने पूंछ की हैसियत बना ली सो बना ली। जिसने टेढ़ी करवा ली सो करवा ली। जिनमें देश सेवा की भावना प्रबल थी, उन्होंने अपने ही देश में करवाई और जिनमें कम थी, वे विदेश चले गये।

अब खुल्लमखुल्ला नेतृत्व का प्रश्न सामने था। स्प्रिंगवालों ने अपने साथ सौ-पचास लोगों को भिड़ाया और नेतृत्व करने लगे। एक स्प्रिंग छाप पूंछ और उसके पीछे सौ-पचास हिलने वाली पूंछें। ये सौ-पचास पूंछें इतनी जोर से हिलतीं कि पूरे जंगल की व्यवस्था हिल जाएगी। अब राजा के सामने फिर यह समस्या आ गई कि इन पूंछवालों को ठीक कैसे करें। राजा ने ज्योतिषियों को बुलाया और निदान पूछा। ज्योतिषियों ने राजा से कहा—महाराज, इसका एक ही इलाज है। आप पोंगलियां बनवा लीजिए और जो पूंछ आपको ज्यादा टेढ़ी लगे उसे पोंगली में डाल दीजिए।

यदि यह व्यवस्था ठीक रही तो आप निश्चिन्त होकर जंगल में राज कर सकेंगे।

राजा का काम हर बात में शंका जाहिर करना भी होता है, सो राजा ने यह शंका प्रकट की कि यदि पोंगली के अन्दर भी यह पूंछ ठीक नहीं रही तो क्या होगा ?

ज्योतिषियों ने शंका समाधान करते हुए कहा—राजन, ये व्यवस्था की पोंगली है। मामूली बांस की पोंगली और आपकी इस पोंगली में बहुत फर्क है। यह तो प्रकृति का नियम है कि व्यवस्था की पोंगली में ही पूंछ सीधी रहती है, और जब पूंछ सीधी रहती है, तो यह माना जाता है कि राजा कुशल प्रशासक है। नीतिशास्त्र भी यह कहता है कि जब पूंछ ज्यादा टेढ़ी हो जाए, तो उसे कुछ दिनों के लिए पोंगली में रखना ही विवेकशील राजा का धर्म है, लेकिन चतुर राजा पोंगली के साथ कुछ सुविधाओं की भी घोषणा करता है ताकि पूंछ को भी अपना स्वाभिमान बनाये रखने में परेशानी न हो। जैसा कि शेर और श्वान की कथा में हुआ था।

राजा ने हुक्म दिया कि उसे शेर और श्वान की कथा सुनाई जाए। तब एक वरिष्ठ किस्म के राजभक्त ज्योतिषाचार्य ने कथा प्रारम्भ की—

एक जंगल में शेर नामक एक राजा था। वह खानदानी राजा था और पिछली कई पीढ़ियों से राज करता आ रहा था। उस जंगल का भी यही नियम था कि शेर का बच्चा ही शेर के बाद राजगद्दी पर बैठता। जंगल के अनेक जानवरों का समर्थन राजा को था, लेकिन श्वान नामक एक प्राणी हमेशा राजकाज के कामों में विघ्न डालता रहता था। यह प्राणी बहुत महत्त्वाकांक्षी था, उसकी सारी शक्ति उसके पूंछ में थी। इस पूंछ के प्रताप से उसने अपनी तरह अनेक पूंछ वालों को अपने साथ मिला लिया था और उसका नेतृत्व करता था। उसकी पूंछ की विशेषता यह थी कि वह टेढ़ी थी। यह टेढ़ापन ही उसकी शक्ति का प्रतीक था। उसकी इच्छा थी कि वह राजा का विश्वास प्राप्त कर इस जंगल में राज करे और राजसी सुविधाएं भोगे, उसने अपने गुप्तचरों से राजा को यह संदेश भी भिजवाया कि यदि शेर उसे अपने साथ रखने के लिए तैयार हो, तो वह जंगल में यह उठा-पटक बन्द करने को तैयार है।

शेर ने अपने सहयोगियों से सलाह ली और श्वान के संदेश पर विचार किया। राजज्योतिषी से पूछने पर पता चला कि श्वान की पूंछ में ऐसी शक्ति है कि यदि उसे सीधा नहीं रखा गया तो उसके राजयोग की पूरी सम्भावना है तथा उसका राजा के साथ रहना राजा के लिए कभी भी घातक हो सकता है।

जब शेर ने इसका निदान पूछा तो राजज्योतिषी ने बताया कि यदि श्वान की पूंछ में पोंगली पहना दी जाए, तो उसकी पूंछ सीधी हो जाएगी, और जब तक पूंछ सीधी रहेगी वह राजा की व्यवस्था में घातक सिद्ध नहीं होगी।
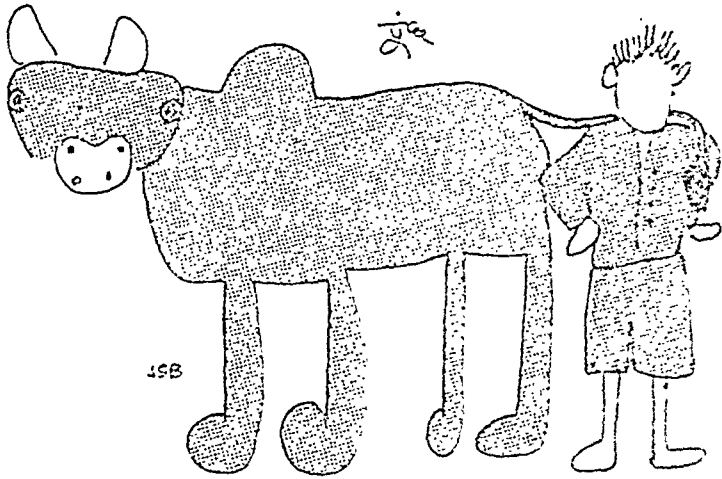
शेर ने अपने गुप्तचरों से श्वान को यह संदेश भिजवा दिया कि राजा उसके संदेश का स्वागत करता है, लेकिन राज परम्परा के अनुसार बिना पोंगली संस्कार के उसे अपने साथ शामिल करना राजा को स्वीकार नहीं है। यदि राजा का यह प्रस्ताव उसे मंजूर हो, तो पोंगली समारोह का आयोजन करके उसे शामिल किया जा सकता है। राजा के साथ शामिल होने पर उसे समस्त राजकीय सुविधाएं प्रदान करने का वचन राजा देता है।

श्वान चूंकि महत्त्वाकांक्षी था, उसने शेर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फिर जंगल में पोंगली संस्कार समारोह का विशाल आयोजन किया

गया। श्वान अपने अनेक साथियों सहित पोंगली पहनकर राजा के साथ रहने लगा। इस तरह श्वान के दिन फिरे। वह अपनी आदत के अनुसार पूंछ भी हिलाना चाहता था, लेकिन व्यवस्था की पोंगली इतनी टाइट थी कि उसकी पूंछ की सारी शक्ति नष्ट हो चुकी थी।

इस कथा का सार यह है कि राजा को कूटनीति जानना जरूरी है। यदि पूंछ से राजकाज में विघ्न पैदा होने की सम्भावना हो, तो पूंछ में पोंगली पहनाना जरूरी है। महत्त्वाकांक्षियों को वश में करना हर राजा का पहला कर्तव्य है। टेढ़ी पूंछ वालों को राजकीय सुविधाएं देने से राजकाज के कामों में विघ्न पैदा नहीं होते तथा जब तक पूंछ पोंगली में रहती है, हमेशा सीधी रहती है।

शेर और श्वान इस समझौते के बाद जंगल में शान्तिपूर्वक रहने लगे। जिस तरह इस शेर को सफलता मिली, हमारे राजा को भी मिले।

कथा सुनने के बाद राजा ने राज ज्योतिषियों को इनाम दिए और अपने मातहतों को बुलाकर उद्योग की महत्ता पर भाषण देते हुए जंगल में एक विशाल पोंगली निर्माण का कारखाना बनाने की घोषणा की। राजा ने यह घोषणा भी की कि जंगल की प्रगति और विकास के लिए लालायित हर पूंछ का सम्मान वे करेंगे। पूंछ वालों से अपील भी की गई कि वे जंगल में स्वच्छ प्रशासन के लिए राजा को सहयोग दें, और अपने नाप की पोंगली का चयन वे खुद कर लें।

शायद यही कारण है कि पूंछ और पोंगली की चर्चा आदिकाल से होती रही है। पूंछ ही नहीं होती तो यह प्रपंच ही क्यों होता।

बेशरम

लतीफ घोंघी

उनकी बैठक में उनके अलावा जिस वस्तु ने मुझे प्रभावित किया था, वह एक बेशरम का पौधा था, जिसे उन्होंने एक देशी मिट्टी के गमले में स्थापित कर कमरे के एक कोने में सजा रखा था। मेरे विचार से देश के वे पहले आदमी थे, जिन्होंने बेशरम को सम्मान का यह दर्जा दिया था। गमला तो वे स्टेनलेस स्टील का भी खरीदने की हैसियत रखते थे, लेकिन उन्होंने यह सोचकर मिट्टी के गमले को प्राथमिकता दी थी कि बेशरम जैसे सदाबहार पौधे को सार्थकता केवल इस देश की मिट्टी ही प्रदान कर सकती है।

उनकी आदत लगभग इसी तरह का काम करने की थी। पिछली बार वे बंजर जमीन से एक युवा पौधा ले आए थे, और रचनात्मक कार्यों के बहाने उसे उपयोगी भी बना चुके थे, दिखने में तो वह अभी भी पौधा ही था। लेकिन उसके दाहिने हाथ के रूप में उन्हें हवाई अड्डे से लेकर सर्किट हाऊस और आम सभाओं तक पहुंचाकर अपनी सार्थकता का परिचय देता था, सरकारी दफ्तरों के वे सारे काम, जो उनके इशारे पर सम्पन्न होने की स्थिति में आते, इसी पौधे के माध्यम से होते थे। उसे पौधा कहना मुझे कतई अच्छा नहीं लग रहा है, लेकिन मेरी विवशता है और इसका कारण यह है कि उनकी बैठक में अगर उक्त दोनों वस्तुओं के बाद कोई तीसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी तो यह पौधा ही था।

मिट्टी से यह पौधा सीधे तो नहीं जुड़ा था, लेकिन एक लाल रंग की कार के टायर के माध्यम से वह देश की मिट्टी को टच जरूर करता था। किसी देहात की धूल भरी कच्ची सड़क पर जब टेसुओं-सी लाल यह गाड़ी

चलती थी, तो लगता था जैसे वसन्त लगते ही हरी शाखों के बीच कोई राजनीति का सुर्ख पलाश तबीयत से खिल गया है।

कुछ इसी तरह का काम्बीनेशन उन्होंने अपनी बैठक में रखे इस बेशरम के पौधे के आसपास निर्मित कर रखा था। बैठक में लगी खिड़की पर उन्होंने सुर्ख लाल परदे लगा रखे थे, जो पलाश का भ्रम पैदा करते थे।

उनका अधिक समय बैठक में ही बीतता। या यूं कहें कि बेशरम के इस गमले के आसपास ही वे अपनी दिनचर्या निर्मित करते थे। वे इसलिए भी प्रसन्न थे कि आभिजात्य वर्ग की उनकी इस बैठक में बिना धूप और पानी के बढ़ने वाला वह सदाबहार पौधा भी था, जिसे लोग हिकारत की नजर से देखते हैं।

यह खबर लगभग पूरे शहर में फैल गई कि दादाजी ने इस बेशरम के पौधे को किसी राजनीतिक चाल की तरह ही कुछ खास मतलब से अपने करीब रखा है। यह खबर कुछ लोगों ने दिल्ली तक भी पहुंचा दी। जैसी कुछ लोगों की आदत होती है, प्रधान मंत्री को भी लम्बे पत्र लिखे गए कि दादाजी की गतिविधियां इन दिनों पार्टी के हित में नजर नहीं आ रही हैं तथा उनकी बैठक में अवांछित तत्त्व हमेशा पाए जाते हैं। यदि आलाकमान को यकीन न हो तो किसी पर्यवेक्षक को भेजकर इस बात की संतुष्टि कर लें। उनकी बैठक बेशरम का एक अड्डा बन गई है।

दूसरे प्रकार के लोग भी थे, जिन्होंने यह पत्र भी लिखे कि दादाजी हरियाली को बंजर जमीन से उठाकर आम आदमी के कमरों तक पहुंचाने की विकासशील गतिविधियों में सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं।

बहरहाल, दोनों तरह के पत्र दिल्ली पहुंचने लगे थे।

मैंने इस बेशरम की चर्चा लोगों से सुन ही ली थी और यही सोचकर आया था कि इस बात का पता लगाऊं कि दादाजी के इस गमले के पीछे, आखिर किस बात का चक्कर है?

थोड़ी देर कमलापति, देश की विदेश नीति, पंजाब में बिगड़ते हालात् आदि पर चर्चा करने के बाद मैं बेशरम पर आ गया। मैंने कहा—दादाजी, बाकी सब तो ठीक है, लेकिन इन दिनों आपके कमरे में लगे इस बेशरम पर लोग तरह-तरह की अटकलें लगा रहे हैं···मैं यह भी जानता हूं कि

आप जो भी कदम उठाते हैं, बहुत सोच-समझकर ही उठाते हैं, इसलिए बेशरम का आपकी बैठक में होना जरूर कोई खास अर्थ रखता है···मैं आपके विचार जानना चाहूंगा।

उनके होंठ और कनपटी के बीच गालों पर एक हल्की-सी लकीर उभरी, जिससे मैंने अंदाजा लगाया कि वे मुस्कुरा रहे हैं। बड़े आदमी तो थे ही, इसलिए अपनी प्रसन्नता वे कुछ इसी तरह प्रकट करते थे। इसे भी लोग दो तरह से ही लेते थे। एक खेमा कहता था वे प्रसन्न हैं और दूसरा खेमा कहता था, उनके चेहरे पर कुटिल मुस्कान है।
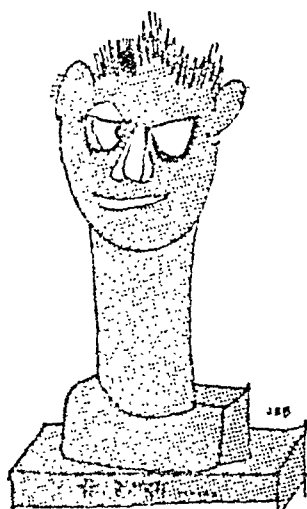
बहुत धीमे स्वर से उन्होंने बात शुरू की—लोगों की तो आदत होती है अटकलें लगाने की···मैं तो एक बात जानता हूं कि मैं जो कुछ करूंगा, उसके पीछे जनहित की भावना जरूर होगी···और मैं यह पूछता हूं कि आखिर इस बेशरम ने क्या बिगाड़ा है लोगों का···इसे किसी बैठक में रहने के अधिकार से क्यों वंचित किया जाए ? यह कोई गुलाब तो नहीं कि शेरवानी में लगकर यह महसूस कर लेगा कि वह स्वतंत्र भारत में जी रहा है। बंजर जमीन में ठोकरें खाते इस पौधे को भी आजादी का एहसास दिलाना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है···और मैं पूछता हूं कि यदि मैं उनके अधिकारों की लड़ाई में शामिल हूं तो उससे लोगों को पीड़ा क्यों होती है। और साफ और सीधी बात तो यह है देश की राजनीति में उनके अस्तित्व को नकारने का कोई औचित्य मुझे नजर नहीं आता···हम आज स्थितियों को हरियाली के आधार पर ही केलकुलेट करते हैं···और यह गुण तो इस बेशरम में है···फिर क्यों किसी प्रकार का विवाद पैदा किया जाए।

मैंने कहा—मैंने सुना है कि प्रतिपक्ष विधान सभा में यह प्रश्न भी इस बार रखने वाला है।

वे बोले—मुझे मालूम है···इस क्षेत्र को हरियाली देने का दायित्व हम

पर है, प्रतिपक्ष पर नहीं···हम तो बस अपना काम कर रहे हैं···हमने अपने कार्यकर्ताओं को निर्देश दे रखे हैं कि हर गांव की सीमा पर वे बेशरम लगायें···कई सरपंचों का सहयोग भी हमें मिल रहा है। प्रतिपक्ष का जवाब तो हम आंकड़ों से दे देंगे।

मैंने पूछा—वह कैसे ?

वे बोले—प्रतिपक्ष का यही प्रश्न होगा कि आजादी के बाद गांव की हरियाली सूख गई है···जैसे ही यह असेम्बली क्वेश्चन आया, हम तत्काल अधिकारियों को हरे दिखने वाले पेड़ों की जानकारी देने का मेमो इशू कर देंगे और जैसे ही जानकारी मिली, हम उसे प्रतिपक्ष के मुंह पर मार देंगे और कहेंगे—अंधे हो···तुम्हें गांवों में हरियाली नहीं दिखती तो देख लो यह आंकड़े···गांवों में सिवाय हरे पेड़ों के कुछ भी नहीं है···हम गांव की सीमा पर यह हरियाली रोपने में जो खर्च कर रहे हैं, वह इसी दिन के लिए है कि कोई हम पर उंगली न उठाये।

मुझे लगा कि उनके विचारों की तह तक पहुंच पाना मुश्किल काम है। इस बेशरम को उन्होंने कहां से कहां तक पहुंचा दिया। मैं तो यही समझ रहा था। कि बेशरम उनकी बैठक तक ही है, लेकिन नहीं···वह तो पूरे अंचल में फैल गया है, और इस पवित्र उद्देश्य के साथ फैला है कि उसे देश को एक विकासशील और हरा-भरा साबित करना है।

उन्होंने लगभग अपनी बात को समापन की ओर ले जाते हुए कहा—और यदि आप मुझसे व्यक्तिगत रूप से भी मेरी राय जानना चाहेंगे तो मैं यही कहूंगा कि बेशरम ही एक ऐसा पौधा है, जिसने तमाम मौसम की विपरीत परिस्थितियों के बाद भी अपना विकास नहीं रोका—बिलकुल हमारी तरह – चाहे भले सब कुछ रुक जाए, लेकिन देश का विकास किसी कीमत पर नहीं रुकेगा···और इसकी प्रेरणा मुझे अपनी बैठक में लगे इस बेशरम से ही मिली है—तुम तो देख ही रहे हो कि हम निरंतर विकास की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

तभी लाल रंग की गाड़ी उनकी बैठक के सामने आकर रुकी। उसमें बेशरम के तीन पौधे थे। गाड़ी से निकलकर वे उनकी बैठक के शेष तीनों कोनों में स्थापित हो गए थे। उनकी बैठक में हरियाली का प्रतिशत अब बढ़ गया था।

वेशरम

ईश्वर शर्मा

इस देश में राजनीति वेशरम के पौधों की तरह वढ़ गई है या फिर वेशरम राजनीति की तरह वढ़ गये हैं। इसकी सही तुलना करने में मैं हमेशा गड़बड़ा जाता हूं।

वेशरम के पौधे कुछ वर्षों पूर्व इस देश में आयात हुए थे। किसने उन्हें भारतीय परिवेश दिया, यह तो शोध का विषय है, लेकिन इस वात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सही पौधा रोपा गया अपने देश में, अव वे फैल गए हैं पूरे देश में, काश्मीर से कन्याकुमारी तक। राजनीति भी इस देश में थोड़े वहुत वर्षों से बुरी कदर फैल गई है। पहले राजनीति केवल राजनीति तक ही सीमित थी। अव परिवार, व्यवसाय, खेल और निजी संवंधों तक में राजनीति की घुसपैठ हो गई है। आपस में दो दोस्त साधारण वातें भी करते हैं तो राजनीति की गंध आने लगती है।

वेशरम के पौधों की विशेषता यह है कि वे पानी, खाद या किसी मौसम के मोहताज नहीं हैं। कड़ी से कड़ी जमीन पर वेशरम की एक डंगाल गाड़ दो। वेशरम का पौधा पूरे आत्मविश्वास के साथ लहलहा उठेगा। कोमल हलके गुलावी फूल तेज गर्मी को मुंह चिढ़ाते हुए झूमने लगेंगे। उन पौधों को चाहे जैसा तोड़ दो, काट दो, कुचल दो, न चोट की पीड़ा और न ही कुचले जाने का गम। हर वार सदावहार मुस्कान लिए निश्चित रहने वाले वेशरम ! तुझे मेरा नमन।

राजनीति का आलम भी कुछ ऐसा ही है। जहां उसके पनपने की जरा भी संभावना दिखाई नहीं पड़ती है, वहां वह लहलहाती हुई दिखती है। जमीन, खाद और पानी आप से आप खोज लेती है राजनीति। वेशरम के

पौधे की तरह वायुमंडल से ही पूरा ऑक्सीजन प्राप्त कर लेती है। किसी धरातल की कोई आवश्यकता नहीं।

जब से बेशरम का आगमन हुआ है, धरातल की राजनीति का लोप हो गया है। नेता धरातलहीन हो गए हैं। ठूंठ की तरह पड़े-पड़े अचानक लहलहा उठते हैं। बस, उन्हें ऊपर के वायुमंडल का सहारा चाहिए। उनके फूलने-फलने के लिए ऊपर की ऑक्सीजन ही बहुत है। पहले राजनीति नीचे से ऊपर उठती थी। अब ऊपर से नीचे टपकने लगी है।

बेशरम के पौधे की तरह राजनीति में फूल खिलते हैं। दूर से बड़े आकर्षक और सुन्दर दिखने वाले फूल। इनमें ना तो सुगन्ध होती है और न ही वे किसी शुभ कार्य के उपयोग में लाए जा सकते हैं। राजनीति के फूल भी बस पेड़ पर ही शोभा देते हैं। जब तक अवसर नहीं आता, लोग यह भ्रम पाले रहते हैं कि कभी मौका पड़ेगा तो ये किसी के काम आ जायेंगे। जब मौका पड़ता है, तब ज्ञात होता है कि ये फूल दूसरों के लिए वर्जित है।

मैं फिर परेशानी में पड़ जाता हूं कि राजनीति को बेशरम की तरह समझूं या बेशरम को राजनीति का दर्जा दूं। कहीं-कहीं जरूर दोनों में विपरीतता दिखाई पड़ती है। बेशरम के पौधे मुख्यतः घेरा लगाने के उपयोग में लाए जाते हैं। लोग खेतों, वाड़ियों या अपने खाली प्लाटों की सुरक्षा के लिए सस्ता तथा टिकाऊ कार्य करते हैं और बेशरम का घेरा लगा देते हैं। कुछ ही दिनों में बिना परिश्रम के घेरा घना हो जाता है और वांछित स्थान को सुरक्षित रखता है। इसी तरह अपनी या क्षेत्र की सुरक्षा के लिए राजनीति का घेरा लगाया जाता है। यह घेरा भी कुछ दिनों में ही घना हो जाता है, और जिसकी सुरक्षा के लिए लगाया गया था, उसे ही खा जाता है। यह बात तयशुदा है कि आप एक बार घेरा डाल दीजिए, फिर आप चाहकर भी उसे हटा नहीं पायेंगे। इसलिए समझदार लोग थोड़ी बहुत परेशानी उठाना पसन्द करते हैं लेकिन घेरा लगाना कबूल नहीं करते।

मेरे शहर में ऐसे बेशरम काफी तादाद में है। मेरे ही क्यों आपके शहर में भी होंगे। नजर दौड़ाइये। गिनते-गिनते थक न जायें तो हमें कहना। अभी शहर के एक छोर पर ही थे। अब देखता हूं तो पूरा शहर पार कर दूसरे छोर तक आ गए हैं। इस विकासशील पौधे के रुकने का रंग-ढंग दिखाई

नहीं पड़ता। बढ़े ही चले जा रहे हैं। पता नहीं भोपाल-दिल्ली में भी रुकेंगे या नहीं कि फिर आगे बढ़ जायेंगे।

मैंने ऐसे ही एक विकासशील को रोककर पूछा—"क्यों भाई, बड़ी तेजी से बढ़े चले जा रहे हो? कहां का दाना-पानी खा रहे हो? हमें भी तो कुछ बताओ?"

उन्होंने अपनी नयी जाकेट की जेब में हाथ डालकर रेशमी रुमाल निकाला, पसीना पोंछा और अति व्यस्तता का प्रदर्शन करते हुए बोला—"एक भवन का शिलान्यास करने जा रहा हूं...एक नई दूकान का शुभारम्भ भी मेरे कर-कमलों से होना है...वहां से एक पुरस्कार समारोह में जाना है...पुरस्कार वितरण की जिम्मेदारी भी आज मुझ पर है। क्या बताऊं, जन-सेवा के कामों से फुरसत ही नहीं मिलती।"

मैंने पूछा—"पिछली बार आपने जो शिलान्यास किया था, उस पर निर्माण कार्य होगा भी या नहीं? इसके पहले भी आपके हाथ लगे दस-बीस पत्थर अहल्या की तरह पड़े हैं। उनका तो उद्धार करवा दो।"

उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—"हमारा काम तो आधारशिला रखकर भाषण देना है। उस पर आगे निर्माण कार्य होता है या नहीं, यह हमारी जिम्मेदारी की बात नहीं है। हमारा तो फोटो और भाषण अखबारों में छप गये और हमारा काम खत्म। आगे का काम भवन बनाने वाले जानें।"

मैंने उन्हें पुनः कुरेदते हुए कहा—"जिस भवन की आधारशिला आप रख रहे हैं, उसका भविष्य और विस्तार देखने की आप कोई जिम्मेदारी नहीं समझते?"

"देखो भई...यह बड़ी गूढ़ बात है। मैं तुम्हें अपना समझकर बताये देता हूं, लेकिन तुम किसी और को मत बताना, नहीं तो हमारी पूछ कम हो जाएगी। मुद्दे की बात यह है कि जब इमारत बन जाती है, तब नींव का पत्थर किसी को दिखाई नहीं देता। हम नहीं चाहते कि मुख्य आधारशिला की उपेक्षा हो, इसलिए हम इमारत नहीं बनवाना चाहते। केवल आधारशिला का ही प्रदर्शन करते रहते हैं।"—उन्होंने मुझे विस्तार से समझाया और यह मानकर कि मैं अच्छी तरह समझ गया हूं, नई दूकान

का शुभारम्भ करने आगे बढ़ गये।

मैं उन्हें आगे बढ़ता देखकर सोच रहा था—बिल्कुल सही है, तभी तो ऊपर वाले वायुमंडल ने इन्हें भी आधारशिला के रूप में स्थापित कर इनका प्रदर्शन प्रारम्भ किया है। इस नींव पर कोई इमारत बनने वाली नहीं है। ऐसी आधारशिलाओं के ठोस आधार तो होते ही नहीं, निर्माण हो भी तो कैसे ?

वाह रे बेशरम, तूने क्या स्वभाव पाया है! तेज आंधी, तूफान और बरसात में तू गलता-झरता तक नहीं। गर्मी, तेज हवा में तू झुलसता नहीं। ठंडी हवा की सर्द लहरों में ठिठुरता-सिकुड़ता तक नहीं। सदाबहार हंस-मुख बना रहता है। हंसता-खिलखिलाता है। अफसोस बस यही है कि तू दूसरों को हंसाता नहीं।

इन दिनों मुझे एक चिन्ता होने लगी है। इतनी अच्छी हंसती-खेलती लहलहाती राजनीति पर मुझे संकट के बादल मंडराते नजर आने लगे हैं। जब से वनों की अवैध कटाई पर सख्ती से रोक लगाई गई है, और बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ईंधन की कमी होती जा रही है, तब से लोगों द्वारा बेशरम के पौधों को तोड़कर सुखाना और उन्हें जलाने का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ कर दिया गया है।

फिलहाल मैं आश्वस्त हूं। राजनीति की तेज बढ़ोतरी के बावजूद आदमियों का अनुपात अभी अधिक है और ईंधन की समस्या उत्पन्न नहीं हुई है, लेकिन गति यदि यही रही तो वह समय भी अधिक दूर नहीं, जब राजनीति की इन डंठलों को भी सुखाना पड़ सकता है।

फिल्म

ईश्वर शर्मा

भारतीय फिल्मों की लाख बुराई की जाए, लेकिन अच्छी बात उसमें यह है कि लोग अपना दुःख उसे देखकर भूल जाते हैं और काल्पनिक सुख में खोये रहते हैं। एक बात यह भी है कि ये फिल्में लोगों में आशा का संचार किए रहती हैं।

हमारे एक पड़ोसी शहर के रजिस्टर्ड दादा से परेशान हैं। रजिस्टर्ड दादा इसलिए, क्योंकि वैसे तो दादा कई लोग बन जाते हैं, सवाल उन्हें मान्यता प्राप्ति का है। पूरा शहर इन तथाकथित दादाओं में से एक-दो को मान्यता देकर रखता है। साल-दो साल में यह मान्यता बदलती रहती है। हां, तो हमारे पड़ोसी इस रजिस्टर्ड और मान्यताप्राप्त दादा से परेशान हैं। जब-तब पकड़कर जेब से रुपये छीन लिए जाते हैं। ना-नुकुर करने पर एकाध हाथ भी रसीदी टिकट की तरह चेहरे पर चिपक जाता है। पड़ोसी की गलती केवल यह थी कि उसने दादा की औकात जाने बिना उसे 'विलेन जैसा दिखता है' कह दिया था। मैं कहता हूं, दिखता भी था तो कहने की क्या बात थी। अब कहा है तो निपटो।

बस, तभी से वे दादा विलेन का सही रोल निभाने लगे हैं। पैसे छीनकर पड़ोसी को ललकारते भी हैं—"जा···बुला ला तेरे किसी बाप को··· हिम्मत हो तो रोक ले मुझे···"

मैं पड़ोसी को बार-बार समझाता हूं—"जाकर उससे माफी मांग लो तो परेशानी से बच जाओगे। आखिर वह दादा है नेता नहीं कि माफी मांगने पर भी अड़ंगा लगाता रहे, और मैं तो कहता हूं कि माफी मांगने पर संरक्षण भी देगा, देखना।"

लेकिन अपना पड़ोसी तो भारतीय फिल्मों वाला है। कहता है—"रुक जाओ थोड़े दिन···उसके लिए भी अपना हीरो आता ही होगा। अमिताभ वच्चन की वह फिल्म देखी है, जिसमें ऐन टाइम पर आकर वह पांच-छः गुंडों की हुलिया टाइट कर देता है। शहर में जव खलनायक है, तो एक दिन हीरो भी आयेगा। फिर पता चलेगा वच्चू को।"

मैं समझाता हूं—"भइया, यह फिल्म-विलिम का चक्कर छोड़ो। यह वास्तविक जीवन है, और यहां कोई हीरो नहीं होता। जो भी आता है, वह वाद में विलेन ही निकलता है। कोई आकर आज तुम्हें इस विलेन से वचा भी ले, तो वाद में खुद विलेन वनकर तुम्हारा शोषण करेगा।"

लेकिन पडोसी कल-परसों ही एक और फिल्म देख आया, जिसमें हीरो खलनायक को पीटने पर हवालत मे पहुंचता है। उसका आत्म-विश्वास और दृढ़ हो गया।

फिल्म में हीरो-हीरोइन कालेज में पढ़ रहे हैं। हीरोइन की किताबें जमीन पर गिर पड़ती हैं। दोनों एक साथ उठाने को झुकते हैं। इधर किताबों पर दोनों के हाथ एकसाथ पड़ते हैं और उधर आंखें टकराती हैं। वस···प्रेम हो गया। धड़ाधड़ कई गाने एकसाथ हो जाते हैं।

मेरा एक दोस्त इसी चक्कर में कालेज में कई लड़कियों से टकरा गया। लेकिन यहां उल्टा होता है। उधर किताबें जमीन पर गिरती हैं और इधर तमाचा गाल पर। दोस्त का हमेशा विश्वास दृढ़ रहता है कि कभी तो कोई लड़की किताव उठाने झुकेगी, लेकिन इधर तमाचों की संख्या वढ़ती जा रही है, और वह फिल्म देखे जा रहा है।

होटल में काम करने वाले छोटे-छोटे वालकों को ध्यान से देखिए, तो कोई जितेन्द्र की नकल करता मिलेगा, तो कोई मिथुन की तरह डिस्को करता दिखाई देगा। अधिकांश वालक अमिताभ स्टाइल में आगे से कमीज को गांठ वांधकर रखते हैं। जव चाय के दो-तीन प्याले लेकर वे किसी को देने जाते हैं, तव मुंह से सीटी वजाते हुए उनकी चाल देखने लायक होती है। चाय-नाश्ता तो वे होटलों में ही पा जाते हैं। उनकी मुख्य चाह होती है, रात के शो के लिए पैसे प्राप्त करना।

उनसे पूछिए—"पढ़ने क्यों नहीं जाते ?"

वे कहेंगे—"पढ़ने जाएंगे तो कमाकर कौन खिलाएगा।"

आप पूछिए—"कमाई की इतनी चिन्ता है तो रात को पिक्चर क्यों जाते हो? नौकरी की रकम जमा क्यों नहीं करते?"

उनका जवाब होगा—"पिक्चर देखने के लिए ही तो होटल में नौकरी करते हैं।"
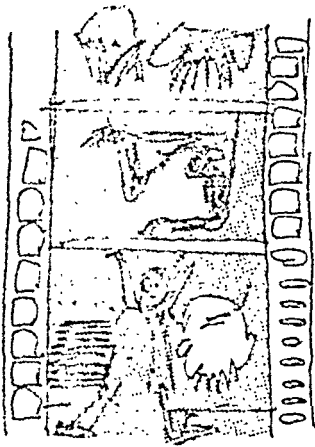
उनकी प्राथमिक आवश्यकता रोटी, कपड़ा नहीं होती, फिल्म होती है क्योंकि ये फिल्में इन्हें वास्तविक जगत के प्रति सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं देतीं। इन्हें किसी काल्पनिक जगत में डुबोये रखती हैं। उन खुशफहमियों में, हसीन वादियों में, अवास्तविक हीरोइज़्म में ये खोये रहते हैं। इन्हें इस बात की फिक्र नहीं रहती कि स्कूल जाकर पढ़-लिख लें, भरपेट खाने की इन्हें सुधि नहीं रहती है। कमीज में खिड़की और पैंट में रोशनदान निकल आये हैं, लेकिन इन्हें उनकी कोई परवाह नहीं होती है। इनका मुख्य आकर्षण होता है, आज किस टाकीज में कौन-सी नई फिल्म लगी है, और उस फिल्म के लिए पैसा कैसे भिड़ाया जाए।

देश का भविष्य इन्हीं नन्हे-मुन्नों के कन्धों पर रखने की हम आशा संजोये हुए हैं। इनमें ही कोई गौतम होगा, इनमें ही कोई होगा गांधी।

युवक रात में फिल्म देखकर आते हैं। सवेरे नये स्टाइल के कपड़े सिलवाने दर्जी की दूकान पर दिखाई पड़ते हैं। पहले केवल हेयर स्टाइल में ही कट चलता था—दिलीप कट, देवानन्द कट, साधना कट; अब कपड़ों में भी कट चलता है—राजेश खन्ना कट, डैनी कट, जैकी कट। दर्जियों की चांदी है। कपड़े फटते नहीं हैं, आए दिन स्टाइल बदल जाती है। कई युवक तो किसी डिजाइन के लिए दर्जी को पांच-छः बार फिल्म दिखा देते हैं, ताकि वह ठीक समझ ले। घिसी जीन्स का चलन चला तो युवक नई जीन्स लेकर उसे घिसने लगे। फिल्म नहीं होती तो वे क्या घिसते? फिल्म है

इसलिए घिस रहे हैं।

युवतियों की हेयर स्टाइल आए दिन वदल जाती है। साड़ी से सलवार-कुरती फिर जीन्स-पैंट-शर्ट। कभी मीडी, कभी लम्वी वांहों वाला फ्राक तो कभी विना वांहों वाला। हेमामालिनी, श्रीदेवी, जयप्रदा और रेखा के हिसाव से ड्रेस पहनने की स्टाइल में प्रतिदिन परिवर्तन दिखता है। परीक्षा का समय नजदीक है, और वातें फिल्मों की हो रही हैं।

फिल्म वड़े से वड़े संकट के एहसास से मुक्ति दिला देती है।

इन युवक-युवतियों से कभी कोई गम्भीर चर्चा करो—"देश की स्थिति ठीक नहीं है।"

ये तपाक् से कहते हैं—"फलां टॉकीज में जो फिल्म लगी है, उसमें यही सव वताया गया है।"

इनसे कहो—"सुधार के लिए सवको मिलकर काम करना पड़ेगा।"

ये कहते हैं—"उसमें देखा नहीं? हीरो-हीरोइन मिलकर गाना गाते हैं, तो सव एक हो जाते हैं।"

अव इन नवयुवकों को कौन समझाए—हम इस देश में कहां से ऐसे हीरो-हीरोइन लाएं, जिनकी आवाज पर लोग देश में सुधार के लिए एक हो जाएं!

वास्तव में देखा जाए तो समूचा देश एक फिल्म है, जिसमें विषमताएं हैं, विसंगतियां हैं, दर्द है, पीड़ा है, नासमझी है, वेफिक्री है। खलनायकों की भीड़ है। कुछ कामेडियन हैं। कुछ हैं जो जीवन का वास्तविक गीत गा रहे हैं। कहानी है, घटनाक्रम है। घुमाव है, क्लाईमेक्स है। कमी है तो वस हीरो-हीरोइन की जिनके आदर्शवाद की ओर कहानी मुड़ सके, जो खलनायकों के विरुद्ध संघर्ष में नेतृत्व कर सकें, जिनके प्रति कहानी के सभी पात्र आस्थावान हों।

मजवूरी है। जव तक परदे पर हीरो-हीरोइन नहीं आते, इस कहानी को इसी तरह चलते रहना है।

फिल्म

लतीफ घोंघी

फिल्म के लिए लेखक की वह पहली कहानी थी। डायरेक्टर ने लेखक से कहा—अब फिल्म में···तुम्हारा हीरोइन को बीमार करने का है···उसको बीमार करो···समझा?

लेखक ने हीरोइन से निवेदन किया—अब समय आ गया है कि तुम बीमार पड़ जाओ···चलो, जल्दी से बीमार हो जाओ!

हीरोइन बोली—बीमार पड़ें मेरे दुश्मन···मैं भी देखती हूं, कौन माटीमिला मुझे बीमार करता है!

लेखक ने समझाया—देखो, तुम बीमार नहीं पड़ोगी तो हीरो तुम्हें खून कैसे देगा? तुम तो जानती ही हो कि सिवाय हीरो के तुम्हारा ब्लड ग्रुप किसी से नहीं मिलता। यकीन न हो तो डाक्टर कापसे से पूछ लो?

हीरोइन तुनककर बोली—कौन कापसे? मैं नहीं जानती किसी कापसे-वापसे को। किस फिल्म में था?

फिर वह हिरनी की तरह उछलती हुई लेखक की पकड़ से बाहर हो गई। लेखक जानता था कि कहानी में यह नायिका-हठ है। वह यह भी जानता था कि उसकी नायिका जरा चुलबुली भी है···और जिद्दी भी है। वह जानता था कि जब नायिका जिद पर आ जाती है, तो बड़े-बड़े लेखक की हालत पतली कर देती है। वह उसे मनाता रहा, लेकिन हीरोइन माने तब ना। वह स्वीमिंग पूल में बिकनी पहने कूद-कूदकर नहाती रही और लेखक मूर्खों की तरह देखता रहा।

डायरेक्टर ने लेखक को बुलाकर कहा—ये क्या तमाशा है? तुम्हारी हीरोइन अभी तक बीमार नहीं पड़ी?

लेखक ने कहा—वह बीमार नहीं हो सकती···दिन भर उसे नहलाते रहोगे तो बीमारी का कोई कीटाणु उसके पास नहीं आ सकता···फिल्म में नहा-नहाकर उसकी रोग निरोधक शक्ति इतनी बढ़ गई है, कि उसे बीमार करना मुश्किल है। वह बीमार नहीं होगी।

डायरेक्टर चिल्लाया—बीमार कैसे नहीं होगी···उसके बाप को भी बीमार पड़ना पड़ेगा। तुम एक काम करो···उसे कैंसर की बीमारी लगा दो···आजकल कैंसरवाली फिल्में बड़ी हिट हो रही हैं।

लेखक बोला—लेकिन उसे कैंसर हो जायेगा तो वह मर जायेगी··· मेरी कहानी में हीरोइन मरती नहीं, और आप उसे मारने पर तुले हैं।

डायरेक्टर ने कहा—मरेगी कैसे? हम जो बैठे हैं। उसे किसी भी हालत में मरने नहीं देंगे। तुम उसको समझाओ कि हम इलाज के लिए स्विट्जरलैण्ड भेजेंगे···उधर जाने से फिल्म में एक बढ़िया कैबरे और डिस्को मिल जायेगा···तुम तो बस जल्दी बीमार करो। समझा?

लेखक ने अपनी बुद्धिमानी दिखाते हुए कहा—लेकिन आपको शायद नहीं मालूम कि विदेशों में भी कैंसर का इलाज नहीं होता। जिसे एक बार कैंसर हो गया, उसे मरना ही पड़ता है।

डायरेक्टर निश्चित होकर बोला—नहीं होगा तो वापस आ जायेंगे··· अपने यहां भी एक से एक हकीम-वैद्य हैं···देखना एक पत्ती खिलाकर उसका कैंसर खत्म कर देंगे···अपने इधर की जड़ी-बूटी में बहुत ताकत है। हीरोइन मरेगी नहीं किसी भी हालत में। समझा?

सीन तैयार हो गया।

हीरोइन बिस्तर पर लेटी है। लेखक बोला—ठीक से लेटो। तुम्हें कैंसर है···इस तरह लेटे-लेटे हलवा मत खाओ। बीमारी में तुम्हें हलवा नहीं पचेगा। तुम्हें कैंसर है।

हीरोइन बोली—चुप रहो···डिस्टर्ब मत करो मुझे···किसने कह दिया कि मुझे कैंसर है?

डायरेक्टर बोला—डाक्टर को बुलाओ।

डाक्टर आ गया। उसके हाथ में बैग था। बैग खाली था। चेहरे से वह जल्लाद दिखता था। दरअसल वह फिल्मों में जल्लाद का रोल ही करता

था। इस बार फिल्म में डाक्टर बना था। जल्लाद से डाक्टर बना था, इस-लिए वह अकड़कर चलता था। उसने हीरोइन की ओर देखा। कैमरा उसकी आंखों पर था। उसकी आंखें चमक रही थीं। फिर एक लांग शाट हुआ। बेड के पीछे एक नर्स खड़ी है। वह बहुत तन्दुरुस्त है। पहले फिल्म में नौकरानी का काम करती थी। इस बार नर्स बनी थी। उसे कौन पकड़कर लाया था, यह लेखक को भी नहीं मालूम था।

लेखक ने डाक्टर से पूछा—कहां का कैंसर है?

डाक्टर बोला—हमें नहीं मालूम। लेकिन कैंसर है, यह पक्का है। कहीं का भी हो, कैंसर न हो तो हमें कहना।

लेखक ने फिर बुद्धिमानी बताई। कहा—कैंसर नहीं हो सकता··· कैंसर होने के बाद कोई औरत इतनी तगड़ी कैसे हो सकती है?

डाक्टर पहली बार डाक्टर बना था। गरम हो गया। बोला—हम डाक्टर हैं···कह दिया कि कैंसर है तो बस कैंसर है···आगे कुछ नहीं हो सकता। फिल्म में हीरोइन को खुजली-खांसी नहीं होती, इतना हम जानते हैं। सेंट-परसेंट कैंसर है।

लेखक बोला—बायप्सी करवा लेते हैं···बाद में किसी को क्यों शक रहे।

डायरेक्टर बोला—तुम्हारी बायप्सी की ऐसी-तैसी···जब डाक्टर ने कह दिया तो तुम लेखक कौन होते हो बहस करने वाले। मैं भी मान गया और तुम भी मान जाओ। तुम्हें और भी फिल्मों के लिए कहानी लिखना है। तुम्हारे कैरियर का सवाल है। समझा?

लेखक मान गया लेकिन हीरोइन मानने को तैयार नहीं थी। बोली—मैं इस डाक्टर के बच्चे को कच्चा खा जाऊंगी···कैंसर होगा उसकी मां को। मेरे खानदान में किसी को कैंसर नहीं है, तो मुझे कैसे कैंसर हो सकता है।

हीरोइन की बात सुनकर डायरेक्टर नरम पड़ गया। बोला—ठीक है मैडम···कैंसर नहीं होगा तो ब्रेन ट्यूमर होगा। फिल्मों में आज-कल ये भी चल रहा है। हम दूसरे डाक्टर को बुलाकर दिखा देते हैं।

फिर शॉट तैयार हुआ।

दूसरा डाक्टर आया। पहले वह फिल्मों में जज का रोल करता था। इस वार डाक्टर वना था। कैमरा क्लोज अप में था। पहले वह हीरोइन की टांगों से होता हुआ उसके गले तक आया। फिर हीरोइन के चेहरे पर रुक गया। कल्याण जी-आनंद जी पीछे से स्पेनिश पर सैड सिचुएशन को टच कर रहे थे। फिर एक लांग शाट हुआ। इस बार दो हट्टी-कट्टी नर्सें थीं। ब्रेन ट्यूमर में हीरोइन को पकड़ना भी पड़ सकता है, शायद इसलिए डायरेक्टर ने सावधानी वरती थी।

डाक्टर पहले 'आर्डर-आर्डर' बोल गया तो सीन कट हो गया। फिर दुवारा कैमरा डाक्टर पर आया। डाक्टर गंभीर होकर वोला—हालात् को मद्देनजर रखते हुए मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि, हीरोइन को ब्रेन ट्यूमर है।

लेखक ने कहा—ब्रेन ट्यूमर होगा तो हीरोइन पागल हो जायेगी। मेरी कहानी का सत्यानास हो जायेगा। पागल लड़की से शादी कौन करेगा?

डायरेक्टर चिल्लाया—भाड़ में जाये तुम्हारी कहानी···तुम्हें शादी की पड़ी है और उधर फायनेंसर हमारी छाती छील रहा है कि फिल्म जल्दी पूरी करो···इसीलिए हम कह देते हैं कि अब हीरोइन को दूसरी बीमारी नहीं हो सकती। उसे ब्रेन ट्यूमर है। समझा?

हीरोइन मुस्कुराई। अव तो वह भी मान गई कि वह बीमार है। उसने डायरेक्टर से पूछा—ब्रेन ट्यूमर होने से मेरा फिगर तो खराब नहीं होगा?

डायरेक्टर बोला—ओह नो···सरटेनली नॉट। दैट इज नाईस···माई गुड गर्ल!

अब फिल्म में हीरोइन बीमार थी। लेखक खुश था कि उसकी इज्जत बच गई।

दुवारा लेखक जब हीरोइन से मिला, तो हीरोइन हाफ पैंट पहने घोड़े पर बैठी थी। लेखक बोला—तुमको ब्रेन ट्यूमर है और तुम घोड़े पर बैठी हो। गिर जाओगी तो फ्रेक्चर हो जायेगा, और तुम्हारी खूबसूरत टांग पर प्लास्टर बांधना पड़ जायेगा।

हीरोइन बोली—शरम नहीं आती तुम्हें···लेखक होकर डायरेक्टर के इशारे पर नाचते हो? तुम तो कहानियां लिखने के बदले दलाली करो।

लेखक के आत्मसम्मान को हीरोइन ने ललकार दिया। लेखक तिल-मिला गया। बोला—चुप रहो···शरम तो तुम्हें आनी चाहिये···पहले तो बहुत अकड़ रही थी कि बीमार नहीं पड़ोगी। अब क्या हो गया? डायरेक्टर के इशारे पर तो तुम भी नाच रही हो।

हीरोइन बोली—अभी तुम फिल्म लाइन में नये हो। मैं इतना नखरा नहीं करूंगी तो मुझे हीरोइन कौन मानेगा? एक्स्ट्रा और हीरोइन में कुछ तो फर्क होना चाहिए। मुझे तो तुम पर तरस आता है···कहां फंस गये फिल्मों में। आत्मसम्मान की इतनी ही चिंता थी तो किसी चौराहे पर पान की दूकान खोल लेते···लेखक होकर दलाली···

और बात पूरी करने के पहले ही हीरोइन कूदकर घोड़े की पीठ पर बैठ गई।

फिल्म में हीरोइन बीमार थी और डायरेक्टर लेखक को समझा रहा था कि कहानी में अब उसके हीरो को क्या करना है।

सम्भावना

लतीफ घोंघी

आपको यह जानकर हार्दिक दुःख होगा कि मैं सम्भावना प्रेमी आदमी हूं। आदमी इसलिए कि लेखक हूं और लेखक चाहे भले कुछ भी न हो, आदमी तो होता ही है। आदमी इसलिए कि वह बीमार पड़ता है और सरकारी अस्पताल जाता है। आदमी इसलिए कि वह राशन की लाइन में खड़ा होता है। आदमी इसलिए कि वह आबादी बढ़ाने में अपना सक्रिय योगदान देता है। ये सारे गुण मुझमें हैं। आदमी होने के लिए इससे अधिक गुणों की जरूरत भी नहीं पड़ती अपने यहां।

पिछले दिनों एक कवि मित्र बीमार पड़ गये। अस्पताल में भरती भी हो गये। कवियों के साथ भी सम्भावना जुड़ी है, यह मुझे उस समय पता चला था, जब वाजपेयी जी का काव्य-संग्रह 'शहर—अब भी सम्भावना है' प्रकाशित हुआ था। यह मात्र संयोग ही था कि यह संग्रह पढ़ने के बाद ही मेरे कवि मित्र बीमार हुए थे। वे साहित्य में सक्रिय तत्त्व थे। अस्पताल से बैठे-बैठे ही अनेक साहित्य समितियों को पत्र लिख दिए, कि मुख्यमंत्री से अपील करो कि मुझे इलाज के लिए पैसे दें। अपने यहां के कवियों में कम से कम यह सद्भावना तो बाकी है, कि वे बीमार पड़ने वाले कवि को आदर की नजर से देखते हैं। धड़ाधड़ पत्र पहुंचने लगे मुख्यमंत्री जी के पास। एक हजार रुपया फेंक दिया मुख्यमंत्री ने राहत कोष से। कवि मित्र अच्छे हो गये और भिड़ गये कविता के पीछे।

इस एक हजार की सम्भावना ने मुझे बहुत आकर्षित किया, लेकिन यह तो हिन्दी व्यंग्य साहित्य और मेरा दुर्भाग्य था, कि मैं बीमार नहीं पड़ा। कई दोस्तों से पूछा—यार, बीमार पड़ने का कोई तरीका बताओ…

जिस कवि ने पच्चीस कविताएं नहीं लिखीं, वह एक हजार पा गया और हम यहां लिख-लिख के मर गये और कुछ भी नहीं मिला।

मित्र बोले— देशी घी और शुद्ध दूध मिलाकर पियो तो तुरन्त बीमार हो जाओगे।

मैंने पूछा—कहां मिलेगा भइया ?

वे बोले—अपने देश में मिलना तो मुश्किल ही है। विदेश से मंगवा लो।
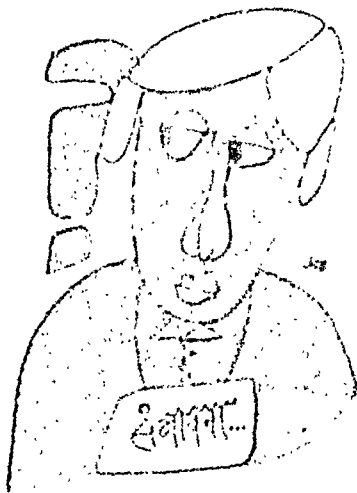
मुझे निराशा हुई कि छोटी-छोटी चीजों के लिए भी हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। बीमारी के लिए भी शुद्ध-माल यहां नहीं मिलता। अपनी आत्म-निर्भरता का दावा कितना खोखला है। अब बेचारा लेखक कैसे एक हजार रुपया प्राप्त करे।

मुख्यमंत्री तो सभी साहित्यकारों को आमंत्रित कर रहे हैं—"बीमार पड़ो और हमारे सहायता कोष से रुपया भुना लो।" जिनका पउवा है, वे बीमार पड़े रहे हैं और साहित्य सृजन भी कर रहे हैं। अर्थ-लाभ की सम्भावना साहित्यकार को साहित्य से जोड़कर रखती है। मेरी तरह अनेक लेखक हैं, जो केवल इसलिए लिख रहे हैं कि कभी वे बीमार पड़ेंगे तो हजार-दो हजार रुपया पा जाएंगे।

जब मैंने घर में बताया कि आजकल अपने प्रदेश में लेखकों की इज्जत बढ़ गई है, तो घर वाले बहुत खुश हुए। श्रीमती जी ने कहा—जब तुम्हें हजार रुपया मिलेगा, तब मैं पांच फकीरों को खाना खिलाऊंगी। खुदा करे तुम्हें जल्दी रुपया मिल जाए।

लेकिन मुझे लगता है कि मेरे बीमार होने की सम्भावना नहीं है। आपको शायद होगा कि मेरा एक व्यंग्य संग्रह 'बीमार न हों' प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह के पीछे भी मेरी मूल भावना य

बात मैंने किताब की भूमिका में नहीं लिखी, क्योंकि यह मेरे देश के व्यंग्य-कारों की इज्जत का सवाल था। लिख देता तो लोग समझते कि हम लेखक लोग हजार-दो हजार रुपयों के लिए मरे जा रहे हैं। चाहे कुछ भी हो, हिन्दी साहित्य में अपना ठस्का कम नहीं होना चाहिए।

यह किस्सा उन्हीं संघर्ष के दिनों का है, जब मैं बीमार होने के लिए जी-तोड़ संघर्ष कर रहा था। भजिया आलूगुंडा, समोसा, सब खा रहा था। बाजार जाता और सब्जी लाता। उसे उबालकर खाता। अस्पताल जाता और पूछता कि टी० बी० का मरीज कौन है? जिसे टी० बी० होती मैं उसके साथ कई घंटों रहता, लेकिन दुर्भाग्य ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। जिसकी किस्मत में मुख्यमंत्री कोष का पैसा लिखा होता है, उसे ही मिलता है। अब तो हालत यह थी कि साहित्यकार मित्र मेरे मुंह पर थूकने लगे। कहते—शरम नहीं आती, साहित्य सेवा कर रहे हो? व्यवस्था को गाली देते हो और कहते हो व्यंग्य लिख रहे हैं? देश की राजनीति को बदनाम करते हो? अब पड़ो ना साले बीमार और ले लो हजार-दो हजार। कौन ोकता है तुम्हें?

देखिए, इस एक हजार की सम्भावना ने मुझे साहित्य में कितना ालील किया।

एक दिन थोड़ा बुखार आया, तो मैं प्रसन्न हो गया। सोचा—पक ाया एक हजार। सीधे भागा सरकारी अस्पताल। डाक्टर से बोला—ुझे भरती कर लो डाक्टर साहब···मेरी इज्जत का सवाल है।

डाक्टर ने मुझे देखा। उन्हें पहली बार पता चला कि इस देश में लखकों की भी इज्जत होती है। उन्होंने पूछा—इज्जत का सवाल कैसे?

मैंने कहा—हम सीधे मुख्यमंत्री से जुड़े हैं।

मेरा यही कहना मेरे लिए घातक सिद्ध हो गया। मुख्यमंत्री का आदमी समझकर उन्होंने मुझे अपनी प्राइवेट बैग में रखा एक इंजेक्शन भी मुफ्त में लगा दिया। केप्सूल भी दे दी और कहा—चिन्ता की कोई बात नहीं, मामूली हरारत है। दो घंटे में आप बिल्कुल स्वस्थ हो जाएंगे। भरती होने की बिल्कुल नौबत नहीं आएगी।

मेरी आत्मा ने मुझे धिक्कारा। कहा—जा मर साले···और

होशियारी दिखा अपनी···

कहने का मतलब यह कि अब डाक्टरों के स्नेह की भी कोई सम्भावना नहीं रही। मेरी जगह दूसरा कोई होता, तो पचास का एक नोट फेंक देता, और भरती हो जाता अस्पताल में। साढ़े नौ सौ रुपयों के फायदे में तो रहता।

मेरी किस्मत में हजार रुपया नहीं था। मुझे आज तक नहीं मिला।

पिछले तीन सालों से प्रदेश ने एक बड़ी सम्भावना फेंक दी लेखकों के सामने। हजार दो हजार छोड़ो···पच्चीस हजार लो एक मुश्त। शिखर सम्मान पा जाओ···बाल-बच्चे खुश रहेंगे, फिर मत कहना कि सरकार ने लेखकों के लिए कुछ नहीं किया।

अब सम्भावना का स्तर पच्चीस गुना ऊपर उठ गया। कई लेखक खांस रहे हैं, लेकिन बीमार नहीं पड़ रहे है और ना ही मर रहे हैं। उनकी रोग निरोधक शक्ति तगड़ी हो गई है। हर साल रास्ता देखते हैं कि इस बार उनका नाम आ जाएगा शिखर सम्मान के लिए। इसी सम्भावना में जी रहे हैं। सम्भावना का यह गणित देश के साहित्य को जीवित रखता है। मेरी रोग निरोधक शक्ति तो वैसे भी बहुत अच्छी है, जिसका उदाहरण मैंने आपको बता दिया है। इस सम्मान के पीछे और कोई भावना हो या न हो, साहित्य को जीवित रखने की भावना तो है इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मैंने फिर घरवालों को बताया कि अब लेखकों की इज्जत अधिक बढ़ गई है और लेखकों को भी पच्चीस हजार रुपया मिल सकता है। तुम लोग मुझे जरा अच्छा खाना खिलाओ क्योंकि मुझे अभी कुछ सालों तक जीना पड़ेगा। घरवालों ने कहा—जो रूखा-सूखा घर पर मिलता है, उसे खाकर जीना है तो जियो···आगे तुम्हारी मर्जी।

सम्भावना आदमी को जीवित रखती है और जैसा कि मैंने पहले कहा है, कि मैं आदमी हूं इसीलिए आज तक जी रहा हूं। मेरी रोग निरोधक शक्ति चाहे जैसी हो, लेकिन पच्चीस हजार की सम्भावना का इसमें पूरा योगदान है, और इसे नकारना भारतीय व्यंग्य साहित्य
होगा।

सम्भावना

ईश्वर शर्मा

यह देश सम्भावनाओं का देश है। कारण और प्रयास समाप्त हो जाते हैं, लेकिन सम्भावनाएं बनी रहती हैं। चुनाव का समय नजदीक आता है, तो दो-चार नई जूता दुकानें खुल जाती हैं। सब्जी बाजार में सड़े आलू-टमाटरों की बिक्री बढ़ जाती है। ठण्ड का मौसम शुरू होते ही दुकानों पर कम्बलों का ढेर दिखाई देने लगता है। महामारी फैलने और लोगों के मरने की सम्भा-वना दिखते ही दवाई दुकानों की बढ़ोतरी हो जाती है।

इन दिनों नगर में दवाई की चार-पांच दुकानें एक साथ खुल गईं। मुझे तत्काल समझ में आ गया कि अब नगर में मरने की सम्भावनाएं बढ़ गई हैं। भला हो दवाई दुकान वालों का। पहले से पता लगा लेते हैं कि कौन-सी बीमारी फैलने वाली है। दुकान में दवाइयों का 'फुल-स्टाक' तैयार हो जाता है। अब क्या मजाल है कि बीमारी फैले और दवा उपलब्ध न हो। ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि किसी बीमारी की सम्भावना में दवाइयां दुकान में भरी हैं, और वह बीमारी ही न फैली हो। एक बार दवाइयां दुकान में आ गईं, तो समझो उन बीमारियों को तो आना ही आना है। नहीं आयेंगी तो डाक्टर पकड़ के ले आयेंगे हमारे लिए। सम्भावना बेकार हो जाए, कहीं ऐसा भी हो सकता है?

लेकिन इन दवाई दुकानवालों को यह कहां मालूम है कि इस देश में लोग केवल बीमारियों से ही नहीं मर रहे हैं। कई लोग ईमान से, धरम े और नैतिकता से मर रहे हैं और कई हैं जो शर्म के मारे मर रहे हैं। ताओ भइया, इन्हें बचाने के लिए दवाइयां कहां से लाओगे?

हमारे एक पड़ोसी हैं। बड़ी दूरदृष्टि रखते हैं। बच्चों

की दुकान पर गए और कहा—पैंट तीन इंच ज्यादा लम्बी बनाना और नीचे से मोड़कर सिल देना।

मैंने पूछा—ऐसा क्यों कर रहे हैं आप?

उन्होंने बताया—बच्चे के अभी लम्बे होने की उम्मीद है, इसलिए पैन्ट पहले से ही लम्बी सिलवा रहा हूं। बहुत दिनों तक काम आयेगी।

इधर हुआ यह कि बच्चे के बड़े होने पर पैन्ट की लम्बाई तो सही रही, लेकिन पिछवाड़े की दीवार में दो रोशनदान निकल आए। मैंने पड़ोसी से कहा—धरी रह गई तुम्हारी दूरदर्शिता? अब क्या करोगे?

उन्होंने जवाब दिया—सम्भावनाएं कभी समाप्त नहीं होती। कल देख लेना।

दूसरे दिन मैंने देखा, उनका बच्चा वही पैंट पहने घूम रहा है और रोशनदान पर 'आई लव यू' और 'फारगेट मी नाट' के स्टिकर लगे हैं।

एक नेता जी हैं। वे अपनी व्यवस्था पूर्ति के लिए सम्भावनाएं जुटा लेते हैं। चुनावी माहौल में किसी भी दल में उनकी काम शुरू कर देने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। चाहे जितनी बार वे दल या दिल परिवर्तन करें, उसका ठोस कारण उनके पास तैयार मिलता है। चुनावी दौरे समाप्त होने के बाद भी उनके लिए सम्भावनओं की कमी नहीं रहती। अनावृष्टि, अतिवृष्टि और ओलावृष्टि के फलस्वरूप वे एक न एक मुद्दा चर्चित बनाए रखते हैं, और राहत-कार्य की आवश्यकता निरन्तर कायम रखते हैं। राहत-कार्यों के चलते समय उनकी सम्भावनाएं बरकरार रहती हैं।

सम्भावना शब्द ऐसा है, जो समाज में बड़े हित के लिए छोटे हित की बलि चढ़ा देता है। महगाई बढ़ रही है कि चीख-चिल्लाहट मचती है। ऊपर से घोषणा होती है—राष्ट्र पर आक्रमण की सम्भावना बढ़ रही है। हथियार खरीद लेने दो। छोड़ो भइया महंगाई की बातें। गुलामी की चुपड़ी रोटी से आजादी की सूखी घास भली। किसी तरह चालीस साल कट गए, सौ-पचास साल ऐसे ही कट जावेंगे। कभी तो खत्म होंगी ये सम्भावनाएं। तब कम कर लेंगे महगाई को भी।

इधर बहुत दिनों से लोग रोना रो रहे थे। कानू

कोई चीज़ नहीं रह गई है। उधर बड़े लोगों पर हमले की सम्भावना बढ़ गई, इधर का हल्ला खलास। पहले उधर की सुरक्षा व्यवस्था संभाल लो भाई! इधर का क्या संभालना और क्या नहीं संभालना। नगों का क्या नहाना और निचोड़ना। जिन्दा भी हैं तो क्या, और मर भी गए तो क्या। इधर सम्भावना वाली कोई बात नहीं है। सब सम्भावना उधर ही है। उसे बनाए रखो।

झुग्गी-झोंपड़ी का पट्टा देने की सम्भावना मिली। बड़े लोगों ने रातों-रात सरकारी जमीन पर झोंपड़ियां खड़ी कर दीं और आंटू-फांटू सड़क चलतों को लाकर सुला दिया—"पड़े रहो स्सालो चुपचाप···पट्टा मिल जाएगा तो किराया हमें देते रहना।" वे लोग पड़े हैं मुंह बन्द किये हुए। पट्टा उनके नाम पर है, किराया दूसरे वसूल कर रहे हैं। मुंह खोलने की गुंजाइश नहीं है। मुंह खोला कि निकाल बाहर किए जाने की सम्भावना है।

बांध बनाने की घोषणा हुई। निचले क्षेत्र में लोगों ने धड़ल्ले से कब्जा करना शुरू कर दिया। जहां बेशरम के पौधे भी उगने में शरमाते थे, वहां आम, अंगूर, अमरूद, काजू के पेड़ सैंकड़ों की तादाद में दर्शा दिये गए। वह जमीन बांध के डूबान में आई और मुआवजे में लाखों रुपयों की सम्भावना बन गई। एक साथ कई लोगों की सम्भावना फलवती हो गई।

सब्र का फल मीठा माना गया है। सम्भावना का फल उससे भी कहीं अधिक मीठा होता है। मुख्य बात यह है कि सम्भावना का सही आकलन करना आना चाहिए। बड़ी कुर्सी की सम्भावना बनी हो, तो छोटी कुर्सी का मोह त्यागना पड़ता है। मेरे एक परिचित सज्जन हैं। जो कुर्सी सामने आती है, उन्हें उसमें ही सम्भावना दिखने लगती है। हर कुर्सी की ओर लपक पड़ते हैं। कभी कोई छोटी-मोटी कुर्सी मिल गई तो, उससे भी बड़ी-बड़ी सम्भावनाएं निकाल लाते हैं। ऐसे वक्त उनके आका भी उनका साथ देने में घबराने लगते हैं। मैंने उन्हें कई बार समझाया—छोटी कुर्सी पर बैठकर अपना व्यक्तित्व बनाओ। जब बड़ी कुर्सी पर पहुंचोगे तो आप से आप सम्भावनाएं निकल आयेंगी।

उनका जवाब हमेशा यही होता है—जो चीज नजर में नहीं है, उसके

लिए सामने की सम्भावना को कैसे छोड़ सकता हूं।

अब मैं उन्हें कैसे समझाऊं—तुम्हारे इन्हीं कार्यों से कभी कोई सम्भावना नजर भी कैसे आ सकती है?

इस देश में जितने भी राजनीतिक दल हैं, हमेशा सत्ता की सम्भावना पर मिलते और टूटते हैं। जनहित की माला का जाप तो सत्ता सुंदरी के रमण के लिए किया जाता है। भाजपा मध्यप्रदेश में जपा के विरोध में चुनाव लड़ेगी, क्योंकि सत्ता में आने की सम्भावना है। वही भाजपा उत्तर-प्रदेश में जपा के साथ लड़ेगी, क्योंकि सत्ता में आने की सम्भावना है कांग्रेस बंगाल में कम्युनिस्टों के विरुद्ध लड़ेगी, लेकिन केरल में कम्युनिस्टों के साथ मिलकर लड़ेगी। सब सत्ता की सम्भावनाओं का खेल है। कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस इसलिये हटा दी गई, क्योंकि उसका रवैया राष्ट्र-विरोधी था। बाद में नेशनल कान्फ्रेंस इसलिये मिला ली गई, क्योंकि राष्ट्रीय एकता व अखण्डता की सुरक्षा करेगी। नागालैंड के मिजो विद्रोही देशविद्रोही थे। नए ढंग की सम्भावना बढ़ी, अब सीमा सुरक्षा उनके हाथों में है।

हेगड़े की सम्भावनाएं बढ़ गईं, चन्द्रशेखर नाराज; अजीतसिंह आ गये, बहुगुणा नाखुश; अर्जुनसिंह की सम्भावना बढ़ी, कमलापति चीखे; अरुण नेहरू बाहर। कांग्रेस में फूट की सम्भावना बढ़ी, शरद पवार अन्दर; सम्भावना का अनुपात सम्भावना से बराबर।

मतलब यह है कि पूरा देश सम्भावनाओं पर जी रहा है। पेट काटकर मां-बाप बच्चों को बड़ा करते हैं, नौकरी की सम्भावना संजोये मर-खप जाते हैं। लड़का नौकरी नहीं पाता, लूटमार करने लगता है या नेता हो जाता है। छोटी सम्भावना समाप्त होती है तो बड़ी सम्भावना दिखने लगती है।

लोग अब सपने नहीं, सम्भावनाएं देखते हैं। हम जिस-तिस से जुड़ते हैं, उसकी सम्भावनाएं देख लेते हैं। हमें जो साथ रखता है, वह हमसे पूरी होने वाली सम्भावनाएं टटोलता है। अफसोस केवल यही है कि सम्भावनाओं में कहीं कोई आत्मीयता का भाव नहीं है, दर्द का रिश्ता नहीं है।

अनशन

ईश्वर शर्मा

संयोग ही था, आज प्रातः ठेकेदार गंगाराम श्मशान घाट पर पक्का शेड बनवाते हुए मुझे मिला था। वही गंगाराम नगर के मुख्य चौराहे पर भी एक पक्का कमरा बनवाता हुआ दिखाई पड़ा।

जानकारी करने के उद्देश्य से मैंने थोड़ा रुककर गंगाराम से पूछा—"क्या बात है भाई···श्मशान घाट और नगर के चौराहे पर एक साथ निर्माण कार्य में लगे हो?"

गंगाराम ने कन्धे पर लटके रूमाल को हाथ में लिया और अपने माथे पर उभरा पसीना पोंछकर कहा—"श्मशान घाट में मुर्दों को जलाने की परमानेंट व्यवस्था कर रहा हूं, और चौक पर परमानेंट अनशन स्थल भी साथ-साथ बन रहा है।"

मामले की गम्भीरता को देखकर मैंने कुछ देर वहां रुकने का इरादा कर अपने शरीर को ढीला छोड़ते हुए पूछा—"परमानेंट व्यवस्था का यह कौन-सा समीकरण है?"

गंगाराम ने मुझे समझाया—"इसमें समीकरण जैसी कोई बात नहीं है। यह निर्माण तो जनसेवा के उद्देश्य से हो रहा है···और फिर अपने साथ तो केवल धंधे वाली बात है।"

"इसमें धंधे की गुंजाइश कहां से निकल आई?" मैंने सवाल किया।

गंगाराम ने रूमाल को पुनः कन्धे पर डालकर, कुरते की जेब से बीड़ी निकालकर सुलगाई, और एक लम्बा कश मारकर कहा—"आप भी समझदार होकर धंधे की बात पूछ रहे हैं···आप तो जानते ही हैं कि लगभग हर दिन कोई न कोई अनशन पर बैठता ही रहता है, और हर बार

जगह की अड़चन होती है···पाल-पंडाल की तकलीफ होती है, सो अलग। इसलिये मैंने सोचा कि अनशन के लिए एक पक्का कमरा बना दिया जाए, ताकि बेचारे अनशन वाले इस तकलीफ से तो बच जाएं।"

"लेकिन यह तो अनशन करने वाले को सुविधा मिलने की बात हुई, तुम्हें क्या लाभ होगा?" मैंने जिज्ञासा प्रकट की।

"जो भी यहां अनशन पर बैठेगा, उससे कमरे का किराया लूंगा। मैं तो सोच रहा हूं कि लगे हाथ दूसरे चौक पर भी एक कमरा बनवा ही दूं। देश की जो स्थितियां हैं, उससे अनशन की काफी सम्भावनाएं हैं···" गंगाराम ने अपनी व्यावसायिक दूरदर्शिता का परिचय देते हुए बताया।

"लेकिन यहां बीच चौराहे पर कमरा बनवाने की क्या जरूरत थी? बेकार में ट्रैफिक जाम होगा। कहीं दूर खुली जगह में इसे बनवा सकते थे।"—मैंने थोड़ी बुद्धिमत्ता झाड़ते हुए कहा।

किन्तु मुझे यह ध्यान ही नहीं था कि मैं एक सफल व्यापारी से बात कर रहा हूं। उसने अधिक बुद्धिमत्ता दर्शाते हुए कहा—"अनशन कभी एकांत में किया जाता है? जहां अधिक से अधिक लोग अनशनकारी का शौर्य देख सकें, वहीं अनशन का तम्बू लगाया जाता है।"

"अनशन का उद्देश्य तो अपनी मांगें मनवाना होता है, प्रदर्शन वाली बात कहां से पैदा हो गई?"—मैंने थोड़ा विरोध प्रकट करते हुए कहा।

बीड़ी का आखिरी लम्बा कश खींचकर फेफड़ों में धुएं का ढेर समेटते हुए गंगाराम को देखकर ऐसा लगा, मानो इस प्रश्न की पूरी कड़वाहट निगलने की वह कोशिश कर रहा है। उसने कहा—"आज कौन जनसेवा के लिए अनशन पर बैठता है? जिसे व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करना होता है, वही अनशन की बैसाखी का सहारा लेता है। मांगें तो इस देश में घर की खेती हैं। चाहे जितनी पैदा कर लो।"

मैंने भी वहम की मानसिकता बनाते हुए कहा—"हर अनशनकारी की महत्त्वपूर्ण मांग होती है, जिनके पूर्ण होने पर ही अनशन टूटता है और तुम हो कि मांगों को महत्त्व ही नहीं दे रहे हो?"

"कुछ मांगें जान-बूझकर ऐसी रखी जाती हैं, जिन्हें पूरा करने में कोई अड़चन न हो, और सम्मानजनक ढंग से अनशन तोड़ा जा सके, अन्यथा

मांगों की सूची तो इतनी लम्बी-चौड़ी रखी जाती है कि साक्षात भगवान भी उन्हें एक साथ पूरी नहीं कर सकता।"—गंगाराम ने अनशन-मीमांसा करते हुए मुझे बताया।

मैंने अनशन के गूढ़ रहस्य से उबरते हुए भौतिक जगत पर दृष्टि डाली—"इस चौराहे पर परमानेंट अनशन स्थल के निर्माण की तुमने अनुमति ली है?"

गंगाराम ने उत्तर देने के बदले मुझसे ही एक प्रश्न कर डाला—"इस देश में स्वीकृति लेकर किसी ने कोई काम किया है?"

"लेकिन यहां चौक में ट्रैफिक जाम होगा।"

"पहले जब अनशनकारी यहां डेरा-तम्बू तानकर बैठते थे, तो क्या परमिशन लेकर बैठते थे? और उस वक्त ट्रैफिक जाम की समस्या नहीं उठती थी क्या? तब यह सवाल तुमने किसी से पूछा जो आज मुझसे पूछ रहे हो!"—गंगाराम की आवाज में मैंने तल्खी महसूस की।

"लेकिन तुम तो धंधे के लिए कमरा बनवा रहे हो।"—गंगाराम जैसे साधारण व्यक्ति से बौद्धिक बहस में पिटने की खीझ को छुपाते हुए मैंने पूछा।

"जो अनशन पर बैठते हैं, वे धंधा नहीं करते हैं क्या? यदि सही नजर से देखोगे तो मालूम हो जायेगा कि अनशन आजकल एक व्यवसाय हो गया है। उन्हें क्यों नहीं कहते? मैं तो व्यवस्था करने का मामूली चार्ज भर लूंगा।"—गंगाराम ने रूखेपन से कहा।

सिलसिला गलत लाइन पर जाता देख मैंने वहां से चल पड़ने में ही भलाई समझी।

कुछ दिनों में ही निर्माण कार्य पूरा हो गया। नगर के अनशनकारियों को भटकने की जरूरत नहीं रही। हां, किराया भंडार वाले की कमाई पर जरूर असर पड़ा। पहले जो व्यवस्था करने के भय से लोग अनशन का इरादा त्याग देते थे, वे भी खुशी-खुशी अनशन पर बैठने लगे।

मान्यता है, कि जिस चीज की सुविधा मिलती है, उसका उपयोग भी बढ़ जाता है। परमानेंट अनशन स्थल के साथ भी ऐसा ही हुआ। पारिवारिक झगड़े में भी जो पक्ष रूठ गया, वह यहां आकर बैठ गया।

दूसरे पक्ष को तत्काल मालूम हो जाता कि वह रूठा हुआ है। नगर में इस अनशन स्थल को कोप-भवन भी कहा जाने लगा।

चमचे अपने आकाओं से मतलब पूरा न होने से नाराज हैं, लेकिन जुबान से कह भी नहीं सकते। उन्हें अब अच्छा अवसर मिल गया। वे कोप-भवन के इर्द-गिर्द मंडराने लगे। उनके आका ने जहां उन्हें दो-चार बार यहां देखा कि बात उनकी समझ में आ गई। बस, पुचकारना शुरू।

नगर के संवेदनशील स्थानों के लिए थाने में सिपाहियों का ड्यूटी चार्ट बनता है। रेलवे स्टेशन, बस स्टैंड, सिनेमा, खजाना गार्ड, मछली बाजार के साथ ही अब अनशन स्थल भी ड्यूटी चार्ट में शामिल हो गया। सरकारी डाक्टर और पत्रकार यहां रुटीन विजिट करने लगे हैं।

अच्छी चहल-पहल हो गई है। अनशन का कार्य आनन्दपूर्वक चल रहा है। अनशन करने वाले खुश हैं। देखने वाले खुश हैं, और गंगाराम तो खुश है ही।

मैं रोज इतिहास के पन्ने पलटकर देख रहा हूं—"क्या इतिहास में कोई अनशन इतनी प्रसन्नतापूर्वक किया गया था?"

मांगों की सूची तो इतनी लम्बी-चौड़ी रखी जाती है कि साक्षात भगवान भी उन्हें एक साथ पूरी नहीं कर सकता।"—गंगाराम ने अनशन-मीमांसा करते हुए मुझे बताया।

मैंने अनशन के गूढ़ रहस्य से उबरते हुए भौतिक जगत पर दृष्टि डाली—"इस चौराहे पर परमानेंट अनशन स्थल के निर्माण की तुमने अनुमति ली है ?"

गंगाराम ने उत्तर देने के बदले मुझसे ही एक प्रश्न कर डाला—"इस देश में स्वीकृति लेकर किसी ने कोई काम किया है ?"

"लेकिन यहां चौक में ट्रैफिक जाम होगा।"

"पहले जब अनशनकारी यहां डेरा-तम्बू तानकर बैठते थे, तो क्या परमिशन लेकर बैठते थे ? और उस वक्त ट्रैफिक जाम की समस्या नहीं उठती थी क्या ? तब यह सवाल तुमने किसी से पूछा जो आज मुझसे पूछ रहे हो !"—गंगाराम की आवाज में मैंने तल्खी महसूस की।

"लेकिन तुम तो धंधे के लिए कमरा बनवा रहे हो।"—गंगाराम जैसे साधारण व्यक्ति से बौद्धिक बहस में पिटने की खीझ को छुपाते हुए मैंने पूछा।

"जो अनशन पर बैठते हैं, वे धंधा नहीं करते हैं क्या ? यदि सही नजर से देखोगे तो मालूम हो जायेगा कि अनशन आजकल एक व्यवसाय हो गया है। उन्हें क्यों नहीं कहते ? मैं तो व्यवस्था करने का मामूली चार्ज भर लूंगा।"—गंगाराम ने रूखेपन से कहा।

सिलसिला गलत लाइन पर जाता देख मैंने वहां से चल पड़ने में ही भलाई समझी।

कुछ दिनों में ही निर्माण कार्य पूरा हो गया। नगर के अनशनकारियों को भटकने की जरूरत नहीं रही। हां, किराया भंडार वाले की कमाई पर जरूर असर पड़ा। पहले जो व्यवस्था करने के भय से लोग अनशन का इरादा त्याग देते थे, वे भी खुशी-खुशी अनशन पर बैठने लगे।

मान्यता है, कि जिस चीज की सुविधा मिलती है, उसका उपयोग भी बढ़ जाता है। परमानेंट अनशन स्थल के साथ भी ऐसा ही हुआ। पारिवारिक झगड़े में भी जो पक्ष रूठ गया, वह यहां आकर बैठ गया।

दूसरे पक्ष को तत्काल मालूम हो जाता कि वह रूठा हुआ है। नगर में इस अनशन स्थल को कोप-भवन भी कहा जाने लगा।

चमचे अपने आकाओं से मतलब पूरा न होने से नाराज हैं, लेकिन जुबान से कह भी नहीं सकते। उन्हें अब अच्छा अवसर मिल गया। वे कोप-भवन के इर्द-गिर्द मंडराने लगे। उनके आका ने जहां उन्हें दो-चार बार यहां देखा कि बात उनकी समझ में आ गई। बस, पुचकारना शुरू।

नगर के संवेदनशील स्थानों के लिए थाने में सिपाहियों का ड्यूटी चार्ट बनता है। रेलवे स्टेशन, बस स्टैंड, सिनेमा, खजाना गार्ड, सदर्श बाजार के साथ ही अब अनशन स्थल भी ड्यूटी चार्ट में शामिल हो गया। सरकारी डाक्टर और पत्रकार यहां रूटीन विजिट करने लगे हैं।

अच्छी चहल-पहल हो गई है। अनशन का कार्य आनन्दपूर्वक चल रहा है। अनशन करने वाले खुश हैं। देखने वाले खुश हैं, और गंगाराम तो खुश है ही।

मैं रोज इतिहास के पन्ने पलटकर देख रहा हूं—"क्या इतिहास में कोई अनशन इतनी प्रसन्नतापूर्वक किया गया था?"

मांगों की सूची तो इतनी लम्बी-चौड़ी रखी जाती है कि साक्षात भगवान भी उन्हें एक साथ पूरी नहीं कर सकता।"—गंगाराम ने अनशन-मीमांसा करते हुए मुझे बताया।

मैंने अनशन के गूढ़ रहस्य से उबरते हुए भौतिक जगत पर दृष्टि डाली—"इस चौराहे पर परमानेंट अनशन स्थल के निर्माण की तुमने अनुमति ली है?"

गंगाराम ने उत्तर देने के बदले मुझसे ही एक प्रश्न कर डाला—"इस देश में स्वीकृति लेकर किसी ने कोई काम किया है?"

"लेकिन यहां चौक में ट्रैफिक जाम होगा।"

"पहले जब अनशनकारी यहां डेरा-तम्बू तानकर बैठते थे, तो क्या परमिशन लेकर बैठते थे? और उस वक्त ट्रैफिक जाम की समस्या नहीं उठती थी क्या? तब यह सवाल तुमने किसी से पूछा जो आज मुझसे पूछ रहे हो!"—गंगाराम की आवाज में मैंने तल्खी महसूस की।

"लेकिन तुम तो धंधे के लिए कमरा बनवा रहे हो।"—गंगाराम जैसे साधारण व्यक्ति से बौद्धिक बहस में पिटने की खीझ को छुपाते हुए मैंने पूछा।

"जो अनशन पर बैठते हैं, वे धंधा नहीं करते हैं क्या? यदि सही नजर से देखोगे तो मालूम हो जायेगा कि अनशन आजकल एक व्यवसाय हो गया है। उन्हें क्यों नहीं कहते? मैं तो व्यवस्था करने का मामूली चार्ज भर लूंगा।"—गंगाराम ने रूखेपन से कहा।

सिलसिला गलत लाइन पर जाता देख मैंने वहां से चल पड़ने में ही भलाई समझी।

कुछ दिनों में ही निर्माण कार्य पूरा हो गया। नगर के अनशनकारियों को भटकने की जरूरत नहीं रही। हां, किराया भंडार वाले की कमाई पर जरूर असर पड़ा। पहले जो व्यवस्था करने के भय से लोग अनशन का इरादा त्याग देते थे, वे भी खुशी-खुशी अनशन पर बैठने लगे।

मान्यता है, कि जिस चीज की सुविधा मिलती है, उसका उपयोग भी बढ़ जाता है। परमानेंट अनशन स्थल के साथ भी ऐसा ही हुआ। पारिवारिक झगड़े में भी जो पक्ष रूठ गया, वह यहां आकर बैठ गया।

दूसरे पक्ष को तत्काल मालूम हो जाता कि वह रूठा हुआ है। नगर में इस अनशन स्थल को कोप-भवन भी कहा जाने लगा।

चमचे अपने आकाओं से मतलब पूरा न होने से नाराज हैं, लेकिन जुबान से कह भी नहीं सकते। उन्हें अब अच्छा अवसर मिल गया। वे कोप-भवन के इर्द-गिर्द मंडराने लगे। उनके आका ने जहां उन्हें दो-चार बार यहां देखा कि बात उनकी समझ में आ गई। बस, पुचकारना शुरू।

नगर के संवेदनशील स्थानों के लिए थाने में सिपाहियों का ड्यूटी चार्ट बनता है। रेलवे स्टेशन, बस स्टैंड, सिनेमा, खजाना गार्ड, मछली बाजार के साथ ही अब अनशन स्थल भी ड्यूटी चार्ट में शामिल हो गया। सरकारी डाक्टर और पत्रकार यहां रूटीन विजिट करने लगे हैं।

अच्छी चहल-पहल हो गई है। अनशन का कार्य आनन्दपूर्वक चल रहा है। अनशन करने वाले खुश हैं। देखने वाले खुश हैं, और गंगाराम तो खुश है ही।

मैं रोज इतिहास के पन्ने पलटकर देख रहा हूं—"क्या इतिहास में कोई अनशन इतनी प्रसन्नतापूर्वक किया गया था?"

अनशन

लतीफ घोंघी

वह अभी-अभी अनशन पर बैठे थे। चेहरे पर ताजगी थी क्योंकि घर से भर पेट खाकर आये थे। पत्नी ने आज विशेष रूप से उनके लिए मीट तैयार किया था। वह तो इन्कार करते रहे कि मसालेदार भोजन से उन्हें अनशन पर अधिक प्यास लगेगी और अधिक पानी पियेंगे तो देखने वालों पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा, लेकिन पत्नी ने जिस मोहब्बत के साथ बिरयानी बनाई थी, उसे ठुकराने की उनमें हिम्मत नहीं थी।

पत्नी ने कहा था—आप पहली बार अच्छा काम करने जा रहे हैं। कम से कम आज तो मेरे हाथ का बना भोजन करते जाइये। खुदा जाने फिर मुलाकात हो या न हो।

चूंकि वे आमरण अनशन पर बैठने वाले थे, इसलिये पत्नी की बात सुनकर उदास हो गये। एक विचार मन में आया कि यदि किसी ने अनशन तोड़ने की पहल नहीं की तो सचमुच वे बेमौत मर जायेंगे। इच्छा हुई कि अनशन पर जाने का इरादा कैंसिल कर दें, और कोई अच्छी-सी मार-काट वाली फिल्म ही देख लें। यही होगा कि लोग कुछ दिनों तक गालियां देंगे और बाद में सब भूल जायेंगे। वैसे भी तो इस तरह के अवसरों से वे कई बार गुजर चुके थे। भूख की कल्पना से उनका मोह बिरयानी के प्रति बढ़ने लगा और उन्होंने दाबकर चार प्लेटें मार दीं।

एक लम्बी डकार के बाद उन्होंने पत्नी से पूछा—कुछ फल-वल हैं?

पत्नी की आस्था जनवादी थी, इसलिये वह बाजार से एक दर्जन केले ले आई थी। उन्होंने आठ-दस केले अन्दर ढकेल दिये, फिर पत्नी से कहा—आज तुम कितनी अच्छी लग रही हो।

पत्नी ने शर्माने की कोशिश की, लेकिन पिछले तीस सालों में उसकी शर्माने की प्रैक्टिस लगभग छूट गई थी, इसलिये कामचलाऊ ढंग से शर्माते हुए बोली—मैं तुम्हारे लिए चाय बनाती हूं। अनशन पर तुम्हें चाय नहीं मिलेगी ना ?

पेय पदार्थों के प्रति वे अपना मोह नहीं छुपा सके। वैसे कई बातें वे पत्नी से छिपा लेते थे। यह उनकी पुरानी हॉबी थी। इस बार उन्होंने अपने आपको सच्चाई के ठोस धरातल पर रखते हुए कहा—हां, कई दिनों से तुम्हारे हाथों की चाय भी तो नहीं पी है। आज की चाय तो मुझे हमेशा याद रहेगी।

उन्होंने बहुत सोच-विचार के बाद अनशन पर बैठने का निर्णय लिया था। दरअसल बहुत दिनों से उनका पेट भी गड़बड़ चल रहा था। खाते ज्यादा थे, लेकिन हजम नहीं कर पाते थे। सौभाग्य से अनशन-लहर चल निकली। लगभग हर शहर में अनशन होने लगे। उन्होंने भी सोचा कि काम कोई बुरा नहीं है। पेट भी साफ हो जायेगा और अच्छी पब्लिसिटी भी हो जायेगी। अखबारों में नाम छपेगा तो लोगों को पता चल जायेगा कि इस नगर में भी महान लोग बसते हैं। कुछ दिनों के लिए उधारी वालों के तगादों से भी पीछा छूट जायेगा। इज्जत एकाएक मार्केट में बढ़ जायेगी, और जब वे अनशन टूटने के बाद गुलाल से नहाये हुए घर लौटेंगे, तो इसी बहाने पत्नी की भी इज्जत मुहल्ले में बढ़ जायेगी, काफी सोच-समझकर ही उन्होंने आमरण अनशन पर बैठने का यह निर्णय लिया था।

सड़क के किनारे थाने के सामने एक छोटा-सा पंडाल। एक बेंच, दो पाटे, तीन-चार टिन की कुर्सियों की पीठ पर चावला किराया भंडार की सील। उनके लिए सामने सफेद चादर से लिपटा एक तख्त।

वे गंभीर मुद्रा में पंडाल के नीचे आये और तख्त पर टांगें मोड़कर पक्के अनशनकारी की तरह बैठ गये। चेहरे पर चिन्ता के भाव थे। लगता था, पूरे देश की परेशानियां वे अकेले ढो रहे हैं। हर दस मिनट बाद वे पास रखा अखबार उलट रहे थे।

उधर माइक पर सूचना चल रही थी। दर्शनार्थियों की भीड़ उन्हें देखने आ रही थी। वैसे भी भूखे आदमी को देखने की परम्परा अपने देश

में है। आमरण अनशन में बैठने वाले वे पहले आदमी थे नगर में, इसलिये लोगों की तरफ से उनके लिए श्रद्धा और भक्ति थोक के भाव से आ रही थी। लोग भी यह सोचकर देख लेते थे कि जाने वेचारा वचता है कि जै हरि हो जाता है।

यह उनका दुर्भाग्य था कि देखने वालों में उनके कोई भी दोस्त नहीं थे। लोगों को देखकर वे मुस्कुराते और कहते—भई, मैं तो अपने सिद्धांतों का पक्का हूं। अव नगरपालिका में यह मनमानी नहीं चलेगी। मर जाऊंगा लेकिन अपनी मांग पूरी होने के पहले अनशन नहीं तोड़ूंगा।

कुल मिलाकर अनशन हाउसफुल की स्थिति की तरह शुरू हुआ था।

शाम हो गई। सूरज पुलिस थाने के पीछे छिप गया। वह डूबते सूरज को देख रहे थे। उन्होंने कलाई पर बंधी घड़ी देखी। दिन-भर सिद्धांत की वातें करते-करते अव उन्हें भूख लगने लगी थी। शाम को वे अक्सर मीठी चाय के साथ वेसन के गरम भजिये खाने के शौकीन थे। उन्होंने लोगों की नजरें वचाकर पेट पर हाथ फेरा और फिर गंभीर हो गये।

इधर वे अपनी समस्याओं से जूझ रहे थे, और उधर भीड़ में अनेक समस्याओं पर विचार करने वाले लोग विचार-मंथन में व्यस्त थे।

एक युवा सज्जन ने कहा—दिन को तो गड़बड़ नहीं कर सकते, लेकिन रात में हमें पहरा देना होगा। मुझे तो शक है कि कहीं रात में दस-वीस पेड़े मार न दे।

दूसरे ने कहा—हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिये। हम ही जब अनशन करने वालों के प्रति विश्वास नहीं रखेंगे, तो लोगों का विश्वास भी अनशन से उठ जायेगा और वहुत से काम जो आसानी से हो रहे हैं, नहीं होंगे।

तीसरा वोला—आठ घंटे में जनाव की हालत पतली हो गई है। किसी ने अनशन नहीं तुड़वाया तो यह आदमी रातों-रात कहीं भाग जायेगा।

चौथे ने कहा—भागेगा कैसे! क्या हम सव मर गये हैं? अव तो उसकी अर्थी ही निकलेगी इस पंडाल से या फिर हमारी मांगें पूरी होंगी।

वह चाहते थे कि रात में एकांत का वातावरण हो, ताकि वे कुछ चिंतन-मनन कर सकें, लेकिन स्वयंसेवक लट्ठभारतीयों की तरह खड़े थे। लोग रात में भी उन्हें अकेला छोड़ना नहीं चाहते थे।

भूख उन्हें डिस्टर्ब कर रही थी। बड़ी मुश्किल से आंख लगी, तो स्वप्न आया कि वे प्यारे खान की होटल में चिकन बिरयानी खा रहे हैं। अचानक कुछ लोगों ने छापा मार दिया। लोग चिल्लाये—पकड़ो साले को··· अनशनकारी होकर खाना खा रहा है।

उनकी नींद खुल गई। फिर उन्हें रात-भर नींद नहीं आई।

सुबह बड़ी निराशाजनक ढंग से शुरू हुई थी। अभी तक किसी ने अनशन तोड़ने की कोई पहल नहीं की थी।

लोग उन्हें समझा रहे थे—हम सब आपके साथ हैं। आप किसी भी
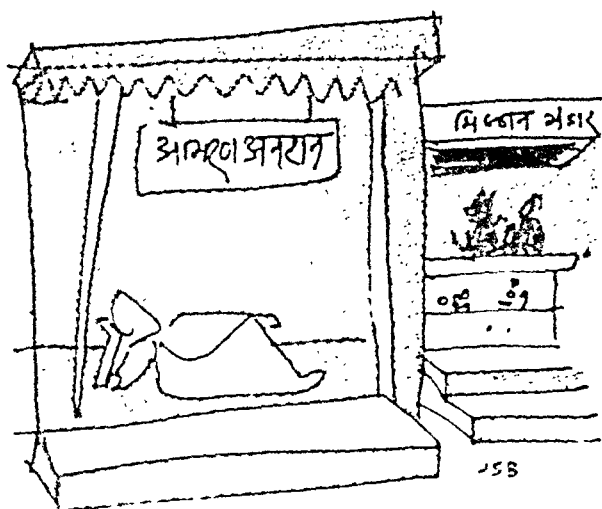
कीमत पर अनशन तोड़ने के लिए तैयार न हों। यह सिद्धान्तों की लड़ाई है। नगरपालिका को हम झुकाकर ही रहेंगे।

वह कहना चाहते थे—"पेट भरा हो तो सबको सिद्धान्त की बात सूझती है। चार दिन भूखे रहो तब पता चलेगा।" लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं कहा। ऐसा कहने से अनशन की गरिमा समाप्त होती थी, इसलिये वे बोले—वे यदि मुझे लिखित रूप में आश्वासन दें कि नगरपालिका में व्याप्त अनियमितता की जाँच करेंगे तो मैं अनशन तोड़ने के लिए तैयार हूँ।

कुछ लोगों ने कहा—नहीं·· ऐसा नहीं होगा। मात्र आश्वासन से हम आपको अनशन तोड़ने नहीं देंगे।

वे फिर कहना चाहते थे—तुम्हारे बाप का क्या जायेगा···इस आमरण अनशन में मैं मर गया तो मेरे बाल-बच्चों को क्या तुम्हारा बाप पालेगा ?" लेकिन उन्हें फिर अनशन की गरिमा याद आ गई, और वे बोले—मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण नगर में कोई अशांति हो। आप लोग पहल करें तो कोई हल निकल ही जायेगा।

एक सज्जन बोले—पहल तो उन्हें करनी चाहिये। हमारी मांगें सही हैं। आप अपना अनशन चालू रखिये। वे खुद आयेंगे आपके पास।

उन्होंने सोचा कि यदि वे नहीं आये तो क्या होगा ?

और हुआ यही कि दूसरे दिन भी अनशन तोड़ने की कोई पहल नहीं हुई। उन्हें अपना भविष्य अंधकारमय लगने लगा। उनके चेहरे पर चिंतन की रेखाएं गंभीर हो गईं।

जिस जगह पर उनका पंडाल लगा था, उसके पीछे ही नगरपालिका का कार्यालय था और गेट पर बोर्ड लगा था—नगरपालिका आपका स्वागत करती है।

उनकी इच्छा हुई कि वे स्वयं नगरपालिका कार्यालय पहुंच जायें और अपना स्वागत करवा लें। यदि आज भी किसी ने अनशन तोड़ने की पहल नहीं की तो उन्हें कोई त्वरित निर्णय लेना ही पड़ेगा।

आश्वासन

ईश्वर शर्मा

पुरातनकाल में भक्त की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान तुरन्त प्रकट हो जाते थे। भक्ति डी० ओ० लेटर का काम करती थी। भगवान भक्त से कहते—मांग लो जो वरदान मांगना है। भक्त अपनी हैसियत के अनुसार वरदान मांगता, और भगवान 'तथास्तु' कह देते थे।

भक्तगण आज भी कठिन तपस्या करते हैं। भगवान के दर्शन को लालायित रहते हैं। लम्बी प्रतीक्षा के बाद टोपी लगाकर या जाकेट पहनकर वे प्रकट होते हैं। भक्तों की मांगों को पूर्ण करने का आश्वासन देते हैं, और भोपाल-दिल्ली की ओर लौट जाते हैं। इधर भक्त वर्षों प्रतीक्षा करते हैं, लेकिन वरदान पैंडिंग में रह जाता है। धोखे-धड़ाके से कई वर्षों बाद यदि भक्त को भगवान के दर्शन लाभ उपलब्ध हो जाते हैं, तो भगवान नये उत्साह से पुराने आश्वासनों के साथ ढेर सारे नये आश्वासन दे जाते हैं। चलो, निपट गये भक्तगण। भगवान अन्तर्धान हो गये। खोजते रहो। प्रतीक्षा करते रहो अगले कई सालों तक।

मेरे विचार से तो यह आश्वासन शब्द ही भारी अर्थपूर्ण है। जो आश्वासन दे रहा है, वह जानता है कि इन्हें पूरा करने की कोई जरूरत नहीं है। जो आश्वासन प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें भली भांति मालूम है कि वे पूरे नहीं होने वाले हैं। फिर भी वे बड़ी श्रद्धा से आश्वासन प्राप्त कर प्रसन्न हो लेते हैं। लेने और देने वाले दोनों खुश। किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं। तुमने लिया तो उसने दिया। उसने दिया तो तुमने लिया। बड़ा साफ-सुथरा सौदा है। यही भारतीय परम्परा भक्तिकाल से चली आ रही है। यही भारतीय संस्कृति है, जिस पर हमें गर्व है।

मैं तो कई बार यह सोचकर चिन्ता में पड़ जाता हूं : यदि आश्वासन का अस्तित्व नहीं होता, तो कैसी विषम परिस्थिति निर्मित हो जाती ? कई लोग अस्तित्वहीन हो जाते। कई लोगों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता।

कई लोगों की दुकानदारी वन्द हो जाती।

एक नेता जी के साथ मैं एक वार दौरे पर गया। एक स्थान पर सार्वजनिक उपयोग की जमीन पर अवैध कब्जा कर बसे लोगों की भीड़ जमा थी। नेता जी के गले में आठ-दस मोटी-मोटी मालाएं पड़ी थीं। नेता जी प्रसन्न थे। उन्होंने अवैध कब्ज़ाधारियों को स्थायी पट्टा देने का आश्वासन दिया और आगे आगे बढ़ गये। वे कब्ज़ाधारी आज तक पट्टे की राह देख रहे हैं।

हां, यह अवश्य हुआ कि अव कोई अधिकारी उन्हें वेदखल करने की बात करता है, तो वे उसी आश्वासन की ढाल लेकर खड़े हो जाते हैं। अवैध कब्जों से आवागमन में असुविधाएं हो रही हैं, लेकिन वे हटने को तैयार नहीं हैं।

उसी दौरे में एक दूसरे गांव में नेता जी का जो स्वागत-सत्कार हुआ, तो उसके प्रभाव में उन्होंने सिंचाई वांध का आश्वासन दे दिया। अव इधर हर साल सूखा पड़ रहा है, और लोग आश्वासन का घाव हरा कर लेते हैं। वात पूरी हो जाये तो उसे आश्वासन कहेगा कौन? नेता जी के आश्वासन देने से एक बात हुई कि कुछ लोग जो स्वयं के साधन से कुआं, पम्प आदि की व्यवस्था कर लेते थे उन्होंने भी अपना विचार त्याग दिया। वे भी आश्वासन की बाढ़ में वह गये।

वहुत दिनों वाद नेता जी एक दिन मुझे मिल गये। मैंने उनसे कहा—आदरणीय, पूरे क्षेत्र में आपके आश्वासन रद्दी कागजों की तरह बिखरे पड़े हैं। उन्हें पूरा कव करवाएंगे?

उन्होंने चेहरे पर विनोदपूर्ण मुस्कुराहट लाते हुए कहा—आश्वासन क्या पूरे करने के लिए दिये जाते हैं?

मैंने कहा—जव उन्हें पूरा नहीं करना है, तो फिर देने की क्या आवश्यकता है…सीधे-सीधे मना कर देना था आपको।

नेताजी ने जाकेट की जेव में हाथ डालकर चेहरे की हंसी को कायम रखते हुए कहा—अभी नहीं समझोगे। दरअसल, आश्वासन जो है, वह ऑक्सीजन का काम करता है। सीधे-सीधे मना करने पर मरीज के खत्म हो जाने का चांस रहता है। भारतीय वोटरों का दिल बड़ा नाजुक होता है।

ऑक्सीजन के दम पर वह वर्षों जी लेता है। हम तो उसी की भलाई के लिए जनहित में आश्वासन देकर उसे वर्षों जिलाये रखते हैं।

—उसे जिलाये रखते हो या अपने आपको जिन्दा रखने के लिए यह काम करते हो?

नेता जी के चेहरे की हंसी गायब हो गई। जाकेट में फंसे हाथों की मुट्ठियां बंध गईं, क्योंकि जाकेट में अचानक ही खिचाव आ गया था। मैंने
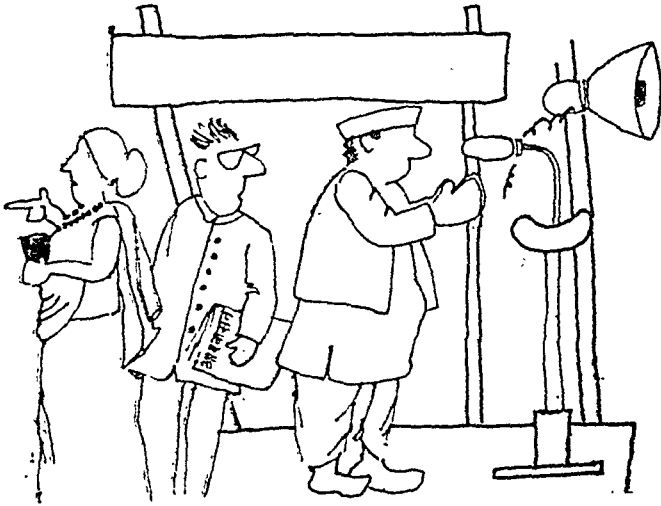
वहां से खिसक जाने में ही अपनी भलाई समझी, क्योंकि मैंने कई श्वानों को तनाव की कुछ ऐसी ही मुद्रा में देखा था। उनके मौखिक प्रहार का जवाब देने की स्थिति में मैं अपने आपको नहीं पा रहा था।

नेता ही क्यों, हर व्यक्ति दूसरे को आश्वासन देकर अपना मतलब हल कर रहे हैं। पति-पत्नी फेरों के समय जब दाम्पत्य-सूत्र में बंधते हैं, उस वक्त वे एक-दूसरे के प्रति वचन भरते हैं। वे सभी वचन उम्र-भर केवल आश्वासन ही रह जाते हैं। उन वचनों का दशांश भी पति-पत्नी द्वारा पूर्ण नहीं किया जाता है। दाम्पत्य जीवन में होश-मदहोश की जाने किन-किन परिस्थितियों में पति-पत्नी को पता नहीं कितने आश्वासन दे डालता है। यदि उन्हें पूरा करना पड़ जाये तो उसकी चांद पिट जाये।

मां-बाप अपने बच्चों को बहलाने-फुसलाने के लिए कितने आश्वासन देते रहते हैं, कि बालक उन आश्वासनों के सपनों में ही युवक हो जाता है।

फिर आश्वासनों का आदी होकर पूरी उम्र काट देता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि न तो कोई आश्वासन उसे उत्तेजित करते हैं, और न ही उसे उसके विरुद्ध कदम उठाने को विवश करते हैं। वह तो जीवन का आवश्यक तत्व मानकर आश्वासनों को ग्रहण करता है और संयमित बना रहता है।

पूरे देश में ऊपर से लेकर नीचे तक आश्वासनों की भरमार है। शिक्षा-सुविधा समान रूप से सबको मिलेगी। रोटी, कपड़ा, मकान प्रत्येक इकाई का हक है। बेरोजगारी नाम की चिड़िया इस देश के आकाश में नहीं उड़ सकती और भ्रष्टाचार को तो अपना मुंह काला करना ही पड़ेगा। अब पता नहीं भ्रष्टाचार का मुंह कब काला होगा, अभी तो लगभग सभी के हाथ और मुंह काले किये जा रहे हैं। लोग इन विषयों के बारे में किंचित मात्र भी चिन्तित नहीं हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में आश्वासन बराबर मिल रहे हैं। जो आता है, एक आश्वासन हमारी झोली में डालकर हमें निश्चिन्त कर देता है।

लोग भी समस्या समाधान के लिए प्रयत्नशील नहीं रहते। मात्र आश्वासन प्राप्त हो जाये तो बस इसी में प्रसन्न हैं। जब इतने में ही प्रसन्न रहना है, तो लो'''हमारे बाप का क्या जाता है। विशाल, सुसंगठित संगठन मांगें पूर्ण होने तक आन्दोलन की पुरजोर धमकी देते हैं, लेकिन उनका फूला हुआ मांगों का गुब्बारा आश्वासन की एक सुई से फुस्स हो जाता है। आमरण अनशन पर बैठे व्यक्ति की मांग भले ही पूर्ण न हो, उसे मांग पूरा होने का आश्वासन भर मिल जाये, तो वह मरने का इरादा और इस इरादे से जुड़े सारे सिद्धान्त त्याग देता है।

आश्वासन इतनी गहनतापूर्वक इस देश की संस्कृति में रच-बस गया है, कि कई क्वारियां प्रसव-पीड़ा सह लेती हैं, कई नवजात कूड़ेदान में पहुंच जाते हैं। अच्छा भी है, यदि आश्वासन का अस्तित्व नहीं होता, तो लोग अन्दर-ही-अन्दर घुलते रहते। बेचारे इसी बहाने अपना गम तो गलत किये रहते हैं।

आश्वासन की व्यापकता और लोकप्रियता देखकर मैं सरकार को यह सुझाव देने वाला हूं कि देश में आश्वासन टैक्स लगा दिये जाएं। देश की गरीबी और आर्थिक स्थिति मिनटों में सुधर जायेगी।

आश्वासन

लतीफ घोंघी

आश्वासनों की लोकप्रियता और व्यापकता को देखते हुए हमारे मित्र ईश्वर शर्मा ने कहा—मैं तो सरकार को सुझाव देने वाला हूं कि आश्वासनों पर टैक्स लगाओ।

मैंने कहा—लगता है तुम मरवाओगे गुरु हमको ?

उन्होंने पूछा—कैसे ? मैंने कहा—टैक्स लगेगा तो सबसे पहले मेरा घर कुरिया नीलाम हो जाएगा। आश्वासन दे-देकर मैं जीवन सेठ को एक साल से टाल रहा हूं। वो तो चढ़ वैठेगा ना भैया मुझ पर।

जीवन सेठ का किस्सा संक्षेप में यह है कि मैंने उसकी दुकान से एक हजार का कपड़ा लिया था, वो भी इसलिए लिया था कि जीवन सेठ ने मुझसे कहा—यार, घोंघी साहव, हिन्दुस्तान के इतने वड़े व्यंग्य लेखक होकर यह दलिद्दर टाइप कपड़े पहनते हो, मुझे शर्म आती है···मेरे यहां से ले जाओ वढ़िया कुरते और पाजामे का कपड़ा···साठ रुपये मीटर का है··· ईमान से वहुत जंचोगे इस कपड़े में।

मैं तो उधारी लेने में बहुत एक्सपर्ट किस्म का आदमी हूं। मैंने कहा—जीवन सेठ···हम लेखक लोग हैं···पूरी जिंदगी लट्ठे के पाजामे और सूती कुरते में काट देते हैं···हमारी हैसियत नहीं है कि हम इतना कीमती कपड़ा पहनें।

जीवन सेठ कुछ मूड में थे। वोले—पैसा कौन मांग रहा है यार आपसे···यह तो नगर की इज्जत का सवाल है। अपने नगर का आपके जैसा लेखक लट्ठा पहनेगा तो यह नगर आखिर गौरवान्वित कैसे होगा ?

मैंने कहा—लेकिन पैसा···

वे वीच में ही फिर वोले—पैसा कौन मांगता है आपसे···आप तो वस

ले जाओ—काट देता हूं पांच कुरते और पांच पाजामे का।

हमारा तो सिद्धांत यह है कि उधारी में कोई कपड़ा मिल रहा हो तो दो के बदले चार ले लो। जब जीवन सेठ को ही नगर को गौरवान्वित करने की चिंता है, तो अपना क्या जाता है। हमने कहा—यार, पांच का क्या हिसाब है···या तो चार काटो या फिर छः काटो···लेकिन जब किसी किताब की रॉयल्टी आयेगी तब पैसे दूंगा।

इसी आश्वासन पर जीवन सेठ ने हमें एक हजार का कपड़ा दे दिया और आज तीन साल से रोज सुबह-शाम हमारे घर का चक्कर लगा रहे हैं। इस बीच हमारी तीन किताबें भी मार्केट में आ गईं, और हमारी यह हालत है कि हम उनको देखकर यह भूल ही जाते हैं कि हिन्दी साहित्य में हास्य-व्यंग्य की कमी है।

यह किस्सा सुनाकर मैंने ईश्वर भाई से पूछा अब बोलो?

उन्होंने कहा—यह तो तुम्हारा व्यक्तिगत मामला है··देश का हित व्यक्ति के हित से हमेशा बड़ा होता है और मैं चाहता हूं कि जनहित में आश्वासनों पर टैक्स तो लगना ही चाहिए।

मैं समझ गया कि मेरा यह दोस्त मेरा घर बर्बाद करने पर तुला है। फिर भी मैंने अपना नॉलेज बढ़ाने के दृष्टिकोण से पूछा—अच्छा बताओ आश्वासन की टैक्स प्रणाली क्या होगी? आदिवासी हरिजनों को छूट मिलेगी या नहीं?

वे बोले—यही तो आपकी आदत बुरी है···मैं इतनी गंभीर बात कर रहा हूं, और आप आदिवासी और हरिजनों को बीच में ला रहे हो···देश की किसी समस्या पर इन्हें अलग रखकर भी कोई बात सोचोगे या इनके ही पीछे पड़े रहोगे?

मैंने कहा—अच्छा हटाओ। अब बताओ कैसे लगेगा आश्वासनों पर टैक्स?

ईश्वर भाई में कई गुण हैं। वे किसी भी व्यक्ति को बहुत दूर से भांपते हैं, व्यंग्य लिखते हैं, कविताएं लिखते हैं, अच्छा तर्क दे लेते हैं और सबसे बड़ा गुण यह है कि वे नगरपालिका में पार्षद हैं। पिछली बार ऐसा हुआ कि नगरपालिका के सफाई कामगारों ने हड़ताल कर दी। नगरपालिका

दोगे ?

—और यदि टाइम में पूरा नहीं कर सके तो ?

—तो क्या···अगला तहसीलदार को आवेदन देगा कि आपने आश्वासन पूरा नहीं किया इसलिए आपको दंडित किया जाये।

—क्या दंड होगा ?

—एक हजार रुपये का जुर्माना या तीन माह का कारावास, या दोनों।

—नेता-मंत्री लोग तो मर जायेंगे वेचारे जुर्माना भर-भर के।

ईश्वर भाई बोले—नेता-मंत्री मरेंगे कभी अपने देश में ? जो कानून वनाएगा, वह अपने वचाव के लिए कुछ न कुछ तो जगह रखेगा।

मैंने पूछा—वो कैसे ?

वे बोले—ये टैक्स-फ्री आश्वासन जो हैं, वे केवल नेता और मंत्रियों के लिए होंगे। उन्हें आश्वासन के लिए कोई अनुमति तहसीलदार से लेने की जरूरत नहीं होगी और पूरा नहीं करने पर भी उनके खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी। सरकार जो है, वह टैक्स देने के लिए नहीं, टैक्स वसूल करने के लिए होती है। समझे कुछ ?

मैंने कहा—यानी कि मरना हम लोगों को ही है···जीवन सेठ तहसीलदार के पास दरख्वास्त लगा देगा और पांच सौ रुपया वंगले में साहव को दे आएगा, तो अपने को तो तीन महीने की सजा हो जायेगी भैया···क्यों ? अरे कोई रास्ता हमारे लिए भी निकालो यार···तुम तो हमें ही मारने पर तुल गए हो।

ईश्वर भाई मुस्कुराये। वोले—इस देश की जनता इसी कानून के लायक है। दो दिन लोग चिल्लायेंगे, फिर लोगों की आदत पड़ जाएगी।

मैंने कहा—मेरा क्या होगा ?

वे वोले—आपका सम्मान करवा देंगे। पांच हजार रुपया राइस मिल एसोसियेशन से दिला देंगे। जीवन सेठ को निपटा देना।

और अंत में यही कहना चाहता हूं कि ईश्वर भाई के इसी आश्वासन पर आज तीन साल से जी रहा हूं। अव तो मैं भी सोचने लगा हूं कि आश्वासन पर सरकार को कोई विधेयक पारित कर कड़ा कानून वना ही देना चाहिए।

अस्पताल

लतीफ घोंघी

अस्पताल वह स्थल है, जहां भारतीय मरीज को जीवन और मृत्यु से संघर्ष करने का सुनहरा अवसर प्राप्त होता है। इससे भले कोई लाभ हो या न हो, लेकिन आदमी की संघर्ष शक्ति बढ़ती है। सरकार की भी कोशिश यही रहती है कि हर नागरिक को यह सुविधा उपलब्ध कराई जाए। इसे मैं सरकार की दूर-दृष्टि ही मानता हूं, कि अपने यहां भी एक सरकारी अस्पताल है; और जैसा कि नियम है, इस अस्पताल में भी चार डाक्टर हैं। क्षेत्र की मृत्यु-दर देखकर ही उन्हें यहां सेवा का अवसर दिया गया है। यह बात और है कि देश में ऐसे भी अस्पताल हैं, जो केवल ऊपर वाले की कृपादृष्टि से ही चलते हैं। ऊपर वाला ही उन्हें ग्लूकोज़ लगाता है, और हर घाव की मरहम-पट्टी करता है।

जब सरकार ने यह अस्पताल खोला है, तो हर नागरिक का कर्तव्य है कि वह एक वार जरूर बीमार पड़े और सरकारी डाक्टरों को सेवा का अवसर दे। कुछ नयी बीमारियां भी विदेशों से आयात की जा रही हैं, ताकि किसी को इस बात की शिकायत का मौका न रहे कि वे बीमार नहीं हुए। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं तो बीमार होने के लिए ही पैदा हुआ हूं। जिस मेटरनिटी होम में मैंने इस पावन धरती पर अपने चरण रखे थे, वह आज भी देश की आबादी बढ़ाने में अपना सक्रिय योगदान दे रहा है।

जितना लाभ मैंने सरकारी अस्पताल का लिया है, शायद ही किसी ने लिया हो। मुझे तो अब तक कोई राष्ट्रपति सम्मान मिल जाना चाहिए था, लेकिन अपने प्रदेश की तरफ केंद्र वालों की नजर ही नहीं उठती। एक हिसाब से देखा जाए तो सरकारी अस्पताल मेरे ही कंधों पर चल रहा है। अब तो स्थिति यह है कि डाक्टर साहब मुझे दूर से देखकर ही समझ जाते हैं कि आज मुझे कौन-सी बीमारी है। वे बेचारे तो बहुत चाहते हैं कि मुझे

तमाम बीमारियों से एक साथ छुटकारा मिल जाए, लेकिन मैं ही कुछ इतना अधिक बेशरम हूं कि उन्हें यह मौका दे ही नहीं रहा हूं। वे सरकारी अस्पताल का लाल पानी भी देते हैं, तो मेरे लिए अमृत सिद्ध हो जाता है। मैं इसे पीता हूं और बच जाता हूं। लोग मुझे देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि मैं आज तक कैसे बचा हुआ हूं। मैं उनसे कहता हूं—सरकारी अस्पताल का इलाज करवाओगे, तो मृत्यु से लड़ने की अच्छी प्रैक्टिस हो जाएगी···बीमारियों से डरोगे तो सरकारी अस्पताल मत जाओ···अपना आत्मविश्वास बढ़ाना है, तो तुम्हारा स्वागत है···आदमी बीमारी से नहीं मरता; वह मरता है तो आत्मविश्वास की कमी से···सरकारी अस्पताल में एक बार आकर देखो कि तुम्हारी रोग-निरोधक शक्ति कितनी तगड़ी है··· सरकारी अस्पतालों में डाक्टर के भरोसे रहने वालों को अपनी शक्ति पर कभी भी विश्वास नहीं होता···बीमारियों से लड़ना खुद सीखो···ताकि सरकार को भी इस बात का गर्व हो कि वह अपने कार्यकाल में मृत्यु-दर घटा सकी है।

यह सुविधा अपने अस्पताल में है, इसलिए मैं जिन्दा हूं। मुझे अपनी रोग-निरोधक शक्ति पर पूरा विश्वास है, और मैंने यह विश्वास एक लम्बे अंतराल में सरकारी अस्पतालों में ही अर्जित किया। जनरल वार्ड का हर बिस्तर मुझे पहचानता है···मुझे देखकर ही उनकी बाछें खिल जाती हैं कि आ गया अपना यार···अब पंद्रह दिनों की फुरसत है।

दुर्भाग्य से मैं पिछले पंद्रह दिनों में एक बार भी बीमार नहीं पड़ा। मुझे भी इस बात की पीड़ा थी। मेरे बिना सरकारी अस्पताल का क्या होगा? डाक्टर किसकी सेवा करेंगे? मेरे लिए जो सरकारी दवाइयों का स्टाक उन्होंने भर रखा है, उसे कहां बेचेंगे? सरकार भी कहेगी कि क्या इसी दिन के लिए हमने तुम्हारे शहर में अस्पताल खोला था? शरम नहीं आती, मुस्टंडे होकर घूम रहे हो? हम तुम्हारे लिए इतना पैसा खर्च कर रहे हैं डाक्टरों के पीछे और तुम हो कि उन्हें मौका ही नहीं दे रहे हो? क्या यही है तुम्हारा नैतिक धर्म? क्या यही है तुम्हारी सरकार के प्रति आस्था? धिक्कार है तुम्हें! बीमार होकर सरकारी अस्पताल नहीं जा सकते तो किसी कुएं, बावली में डूबकर मर जाओ।

मैं भी गंभीरता से इस पर विचार करने लगा। मुझे ताज्जुब भी हो रहा था कि अस्पताल के होते हुए अपने शहर में साला यह हैल्दी सीज़न कहां से आ गया। अब यह काम मेरे लिए बहुत अधिक चुनौती भरा था। पंद्रह दिनों तक कोई नागरिक स्वस्थ रह जाए, तो यह बात गिनीज़ बुक में आ जानी चाहिए। और मैं डर रहा था कि कहीं गिनीज़ बुक वाले मेरे पीछे न पड़ जाएं। वैसे भी मैं मोटी किताबों से डरता हूं। मेरा नाम कहीं इस किताब में छप गया तो सरकार कहीं यह न समझ ले कि अब अपने यहां
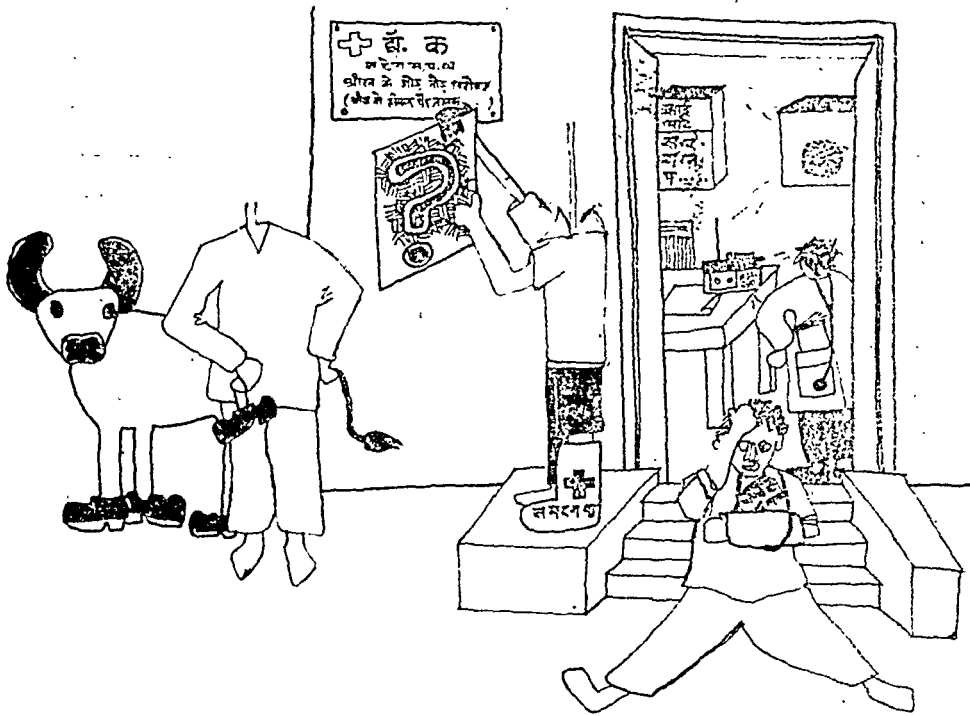
अस्पतालों की जरूरत ही नहीं है। ऐसा हुआ तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। मेरी अंतरात्मा मुझे धिक्कारेगी सो अलग।

मैं सड़क पर चलता और हर युवा मोटरसाइकल वाले को देखकर निवेदन करता—यार, मार दे एक ठोकर और तोड़ दे मेरे पैर की हड्डी··· मैं पंद्रह दिन से सरकारी अस्पताल नहीं गया हूं यार···कुछ तो रचनात्मक कार्य कर ले भइया···प्रधानमंत्री को इस युवा शक्ति पर इतना भरोसा है और तू हैकि एक ठोकर भी नहीं मार रहा है···क्या हो गया है आज तुझे ?

हर मोटर साइकलवाला ड्राइव्ह मारकर निकल जाता। यही सिल-सिला फिर पंद्रह दिनों तक चला। कोई दुर्घटना नहीं हुई। मैं रोज घर से यही सोचकर निकलता कि मुझे सड़क से लोग सीधे सरकारी अस्पताल ले जाएंगे और डाक्टर साहब प्रसन्न होकर कहेंगे—कहां थे इतने दिनों तक ? तुम्हारे वियोग में इस अस्पताल का हर कोना आंसू वहा रहा है···हमारी वांहें मचल रही हैं···हमारे हाथ फड़फड़ा रहे हैं···भूल ही गए थे हमें ?

अपने देश में दयालु लोगों की कमी नहीं है। एक युवा को मुझ पर दया आ गई और उसने राजदूत चढ़ा दी मुझ पर। लोग उसे मारने दौड़े तो मैंने कहा—इसे मत मारो···इसी के कंधे पर राष्ट्र का भविष्य है···मैं तो इस रचनात्मक कार्य की प्रतीक्षा एक महीने से कर रहा था···इसने मेरी आत्मा की आवाज सुनी है···यह महान है···ऐसे लोगों का सरकारी अस्पताल को अच्छा योगदान रहता है···मुझे सरकारी अस्पताल ले चलो···एक महीने से व्याकुल हूं···मैं देश की युवा शक्ति को नमन करता हूं।

फिर मैंने उस युवा को धन्यवाद देने की गरज से कहा—भाई, मेरी टांग की चिन्ता तू मत कर···सरकारी अस्पताल हम जैसे लोगों की टांग जोड़ने के लिए ही सरकार ने खोला है···तू यह देख ले कि तेरी राजदूत कहीं से पिचकी तो नहीं है ? लगे तो मुझसे पच्चीस-पचास रुपया और ले ले और दो-चार महीने में मुझे अस्पताल जाने का सौभाग्य प्रदान करता रह।

लोगों ने मेरी उदारता की सराहना की। वोले—ऐसे भारतीय नागरिकों पर हमें गर्व है···तुम जैसे दस-वीस लोग इस शहर में हो जाएं, तो जरूर युवा पार्टी को एक रचनात्मक दिशा मिलेगी।

इसके वाद कुछ लोगों ने मुझे सरकारी अस्पताल में लाकर डाल दिया। पता चला कि चार में से दो डाक्टर नसवंदी कैम्प में वाहर गए हैं। ठीक है। आवादी कम करना ज्यादा जरूरी है···अपनी हड्डी नहीं भी जुड़ेगी तो देश का विकास नहीं रुक जाएगा। एक डाक्टर जो वचा था, वह पोस्टमार्टम करने गया था। अव वचा एक तो उसके सामने मरीजों की इतनी लम्वी भीड़ थी, कि मुझे लगा कि इस भीड़ को निपटाने तक तो मेरी हड्डी आप से आप जुड़ जाएगी। लोगों ने उससे निवेदन किया कि केस सीरियस है, और वे मुझे जल्दी देख लें।

मैं जानता हूं कि वे बेचारे पहली बार सरकारी अस्पताल में आए थे। सब कुछ होता है, लेकिन मरीज देखने में सरकारी अस्पताल में कोई जल्दबाजी नहीं होती। डाक्टर आराम से आता है और पूरे आत्मविश्वास के साथ आता है, कि मरीज जीवित होगा। मुझे लोगों ने सरकारी अस्पताल में रखी एक लकड़ी की बेंच पर लिटा दिया था। मैंने लोगों से कहा—मेरे लिए सुरेंद्र मोहन पाठक का कोई जासूसी उपन्यास ला दो···डाक्टर साहब अभी व्यस्त हैं···उन्हें डिस्टर्ब मत करो।

लोगों ने ऐसा ही किया। जसराज भाई की बुक स्टाल से वे एक उपन्यास मांगकर ले आए। मैंने कहा—अब आप लोग घर जाइए···मुझे सरकारी अस्पताल का अच्छा अनुभव है···हां, मेरे घर खबर कर दीजिएगा कि वे किसी बात की चिन्ता न करें, मैं सरकारी अस्पताल में हूं।

आधे से अधिक उपन्यास पूरा कर लेने के बाद डाक्टर साहब मेरे पास आए। मुझसे पूछा—चोट कहां लगी है?

मैंने दाहिने पैर की ओर इशारा किया। उन्होंने कहा—लगता है हड्डी टूट गई है···आप ऐसा कीजिए कि किसी प्राइवेट डाक्टर के पास एक्सरे करवा लीजिए, तो हड्डी ठीक से जोड़ने में सुविधा होगी···एक्सरे तो हम भी यहां कर देते, लेकिन बहुत दिनों से फिल्म की सप्लाई नहीं हो रही है।

मैंने कहा—डाक्टर साहब, मैं सरकारी अस्पताल पर आस्था रखने वाला आदमी हूं। आप तो बिना एक्सरे लिए ही मेरी हड्डी जोड़ दीजिए··· यही होगा कि गलत जुड़ जाएगी···मुझे इस बात की बिल्कुल चिंता नहीं है···मैं इसे सीधी करवाने फिर अस्पताल आ जाऊंगा···या फिर आप कहें तो मैं कुछ दिनों तक फिल्म का इंतजार करूं···मुझे वैसे कोई जल्दी नहीं है···एक टांग के भरोसे भी तो लोग जी रहे हैं इस देश में।

डाक्टर साहब ने मेरी ओर देखा। मैं जासूसी उपन्यास पूरा करने में लगा था। मुझे विश्वास था कि स्ट्रेचर आने तक मैं उपन्यास पूरा कर लूंगा। सरकारी अस्पताल का अनुभव मेरे साथ था। पैर की हड्डी जब जुड़ेगी तब जुड़ेगी। मैं सरकारी अस्पताल में हूं, यही मेरे लिए गौरव की बात थी। जीवन और मृत्यु से संघर्ष करना तो मुझे आता ही था।

अस्पताल

ईश्वर शर्मा

पूरा देश अस्पताल का ही विस्तृत संस्करण है। मरीज अपनी समस्याएं लेकर आते हैं। डाक्टरों की लापरवाही और आपसी खींचतान से मर्ज दूर होने के वजाय बढ़कर नासूर हो जाता है।

डाक्टरों की प्रतिष्ठा के अनुरूप रोग भी गंभीर हो जाता है। मेरे एक मित्र को हल्की-सी सर्दी, खांसी हुई। उसने मुहल्ले के एक साधारण डाक्टर को दिखाया। डाक्टर ने दो-चार टेवलेट दीं और मर्ज ठीक हो गया। एक अन्य परिचित को वैसी ही सर्दी, खांसी हुई। वह एक प्रतिष्ठित चिकित्सक के पास चला गया। डाक्टर को मर्ज और मरीज से अधिक अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रखना पड़ता है। वह भी यदि दो-चार टेवलेट देकर समस्या दूर कर देता, तो उस साधारण डाक्टर और उसमें क्या फर्क रह जाता।

ख्याति प्राप्त डाक्टर ने अपने मरीज के इलाज में अपनी प्रतिष्ठा का पूरा ख्याल रखा। इलाज के पहले मर्ज के जड़ तक पहुंचने की कोशिश की। थूक, पेशाव, खून की अलग-अलग जांच और छाती का एक्सरे करवा कर टी० वी० जैसी गंभीर वीमारी के लक्षण न होने की तसल्ली कर ली। तव कहीं जाकर एक सप्ताह वाद गर्वपूर्वक मरीज से कहा—चिंता की कोई वात नहीं। साधारण खांसी, सर्दी है। एक-दो दिन में ठीक हो जायेगी।

फिर भी मरीज को चिकित्सक की प्रतिष्ठा के अनुरूप दवाइयां लेनी पड़ीं। इंजेक्शन तो वहीं लगा दिया गया। कैपसूल और पीने की दवाओं की लम्वी परची का भुगतान अलग करना पड़ा। डाक्टर की घोषणा के अनुसार मर्ज एक-दो दिन में आराम हो गया। डाक्टर की ख्याति और

बढ़ गई।

सही चिकित्सक साधारण से साधारण मर्ज में भी गंभीर लक्षणों की संभावना का ध्यान रखते हैं। मर्ज दिखने में कितना ही साधारण हो, उसकी जड़ें खोजने की कोशिश करते हैं।

यही हो रहा है देश में।

ग्रामीण भैयाजी के पास आते हैं। कहते हैं—गांव तक सड़क नहीं बनी है। बड़ी अड़चन होती है।

भैयाजी पूछते हैं—गांव कितने सालों से है?

ग्रामीण बताते हैं—पुरखों के जमाने से बना हुआ है सरकार।

भैयाजी आश्वस्त हो जाते हैं। वे जड़ें खोजते हैं—फिर इतने सालों से सड़क क्यों नहीं बनी? जरूर कोई गंभीर कारण है।

ग्रामीण चिंतित होकर कहते हैं—ऐसी बात नहीं है सरकार! कोई ध्यान ही नहीं देता। जो भी आते हैं, उनके पास हम अपनी गुहार लगाते हैं।

भैयाजी और अधिक निश्चित हो जाते हैं। कहते हैं—हूं...अलग-अलग लोगों से इलाज करवाओगे तो रोग कैसे ठीक होगा। मेरे पास अब आये हो जब समस्या बढ़ गई है। इतने साल की समस्या ठीक होते भी अब समय लगेगा।

भैयाजी ने मर्ज की जड़ तक पहुंचने के लिए क्लिनीकल इनवेस्टीगेशन शुरू किया—

—गांव में कितनी जनसंख्या है?

—लगभग एक हजार सरकार!

—कौन-कौन-सी जाति के लोग रहते हैं?

—ज्यादा करके हरिजन आदिवासी हुजूर!

—वोट किसको देते हो?

—जो मांगने आता है, उसी को दे देते हैं सरकार!

—तभी मर्ज गंभीर हो गया है। लम्बा इलाज करना पड़ेगा।

लम्बा इलाज शुरू हो गया। खून, पेशाब के परीक्षण का दौर प्रारंभ हुआ। भैयाजी ने कहा—पंचायत चुनाव में हमारे आदमी का साथ दो। रोड बन जायेगी।

भैया जी का उम्मीदवार जीत गया।

फिर सहकारी संस्थाओं का चुनाव सामने आ गया। और फिर संगठन के चुनाव आ गये। परीक्षण चलता रहा। मर्ज गंभीर होता गया।

कई वर्षों वाद ग्रामीण फिर भैयाजी के पास आये। वही वीमारी—"सड़क अव तक नहीं वनी सरकार !"

भैयाजी के चेहरे पर आंतरिक संवेदनाओं के भाव उतर आये। उन्होंने कहा—यह सड़क वननी भी नहीं चाहिये। सड़क वनने से आदिवासियों की मौलिक संस्कृति नष्ट हो जायेगी और उसे शहरों की दूषित हवा लग जायेगी। शहरी सभ्यता से हमें आदिवासी संस्कृति को वचाये रखना है।

ग्रामीण अब किसी वड़े चिकित्सक की तलाश में है।

यह अस्पताल है। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को अस्पताल में लाया जाता है। मरीज अंतिम सांसें गिन रहा है। लोग चाहते हैं, तत्काल उपचार शुरू हो जाये।

चिकित्सक पूछता है—थाने में रिपोर्ट हुई या नहीं ?

लोग कहते हैं—थाने में रिपोर्ट भी हो जायेगी…पहले मरीज का इलाज शुरू करो।

चिकित्सक जवाव देता है—नहीं…पहले थाने में रिपोर्ट करो। नियम से वाहर काम नहीं किया जायेगा।

मरीज तड़प रहा है। नियम आड़े आ गया है। इस देश में जव किसी समस्या को उलझाये रखना है, तो पचीसों नियम निकल आते हैं, जिन्हें सुलझाने में वर्षों लग जाते हैं। पहले नियम सुलझे तव फिर समस्या सुलझेगी।

मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि नियम समस्याओं को उलझाने के लिए ही बनाये जाते हैं।

देश में वेरोजगारी, दहेज, गरीवी, महंगाई, अंत्योदय की समस्याओं के नियम अभी सुलझाये जा रहे हैं। कई समस्याएं अभी परीक्षण के दौर से गुजर रही हैं। गोरखालैण्ड मर्ज की जड़ें टटोलने का प्रयास हो रहा है। थूक, पेशाव, खून का परीक्षण जरूरी है। असम की समस्या वहुत क्रानिक थी। किसी तरह आपरेशन कर उल्टे-सीधे टांके लगा दिये गये हैं। मवाद

अभी भी रिस रहा है। नागालैण्ड का मर्ज भी बढ़कर नासूर हो गया है। एक अंग काटकर मर्ज दूर करने का प्रयास किया गया है। कश्मीर में कई बार दवाइयां बदलने के बाद भी जब रोग दूर नहीं हुआ, तो पेथेडीन का इंजेक्शन लगाकर मरीज को शिथिल कर दिया गया है। झारखण्ड समस्या, भाषा का मर्ज कैपसूल दवाइयों में ही टल जाता है, लेकिन गंभीर मर्ज हो गया है पंजाब का।

मरीज आपरेशन टेबल पर लेटा हुआ है। कांग्रेस, भाजपा, जपा, लोकदल के चिकित्सक उसे घेरे खड़े हैं। चिकित्सक आपरेशन टेबल पर बहस में लगे हैं कि क्या उपचार किया जाए।

एक चिकित्सक कहता है—नासूर वाले भाग को काटकर अलग कर दो।

दूसरा चिकित्सक विरोध करता है—नहीं, इसमें खून अधिक बह जाने का खतरा है।

पहला कहता है—नहीं काटेंग जो जहर पूरे शरीर में फैल जाएगा।

तीसरा कहता है—थोड़ा-सा चीरा लगाकर मवाद निकाल दो और ड्रेसिंग कर दो।

चौथा कहता है—यह इलाज तो पहले भी कई बार हो चुका है··· जख्म बढ़ता ही जा रहा है।

चिकित्सक एकमत नहीं हो पा रहे हैं। इलाज सभी चाह रहे हैं। लेकिन तय नहीं कर पा रहे हैं कि आपरेशन करके उस अंग को काट दें या प्रभावशाली दवाइयों की खुराक अभी देते रहें।

मरीज आपरेशन टेबल पर तेजी से तड़प रहा है। यही होता है अस्पताल में।

शवयात्रा

ईश्वर शर्मा

यदि आप काम से थके हों और फुरसत में बैठकर गपशप के मूड में हों तो किसी शवयात्रा में शामिल हो जाइए। आजकल शवयात्रा में लोग 'रिलेक्स' होने आते हैं। मृतक बेचारा समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। हम उसके साथ तनावों से मुक्त हो सकते हैं।

लम्बे अरसे के वाद पिछले दिनों एक शवयात्रा में शामिल होने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ। वड़ी संख्या में लोग शामिल थे। मुझे आश्चर्य हुआ। मरने वाला कभी उस हैसियत पर नहीं पहुंचा था कि उसकी शव-यात्रा में इतने लोग इकट्ठे हों। सगे-सम्बन्धी इसलिये थे कि हैसियतदार उन्हें अपना शुभचिंतक समझें, और वक्त-जरूरत पर काम आएं।

जव सभी पहलू टटोलने के वाद भी मेरी समझ में वात नहीं आई, तो मैंने समझने की गरज से एक परिचित से पूछा — "क्या वात···वड़ी संख्या में लोग आए हैं?"

वह वोला—"क्या करते···आजकल तो किसी को फुरसत मिलती नहीं···यहीं गपशप मारने चले आए।"

"गपशप तो शहर में कहीं भी वैठकर मारी जा सकती है। उसके लिए इतनी तकलीफ करने की क्या जरूरत है?"

उसने कंधे पर रखे टॉवेल को हाथ में लेकर दूसरे कंधे पर डाला और कहा—"शहर में इतने लोग एक साथ खाली मिल सकते हैं क्या?"

पहली वार मुझे महसूस हुआ कि शवयात्रा में शामिल होने में कुछ फायदे भी हैं। अपने-अपने कार्यों की लम्बी भाग-दौड़ में लगे लोग अपने परिचितों से महीनों नहीं मिल पाते हैं। उन्हें सभी से एक साथ मिलने,

वतियाने का अच्छा अवसर शवयात्रा में मिल जाता है। सभी तरह के लोग मिल जाते हैं। सभी तरह की बातें हो जाती हैं। कुछ गलतफहमियां दूर हो जाती हैं। कुछ नई जानकारियां प्राप्त हो जाती हैं। किसका कहां क्या चल रहा है, सबको पता लग जाता है।

आगे-आगे चार आदमी कन्धे पर शव को लादे चले जा रहे हैं। अगल-बगल कुछ लोग कन्धा बदलने में साथ देने के लिए लगभग दौड़ते-से चल रहे हैं। एक व्यक्ति सही धुन में कहता जा रहा है—"राम नाम सत्य है" कुछ लोग उसी धुन को आगे बढ़ाते हैं—"सबकी यही गत्य है।"

मेरी बगल से चल रहा परिचित किसी से कह रहा है—"इस साल हमें अच्छा लाभ बैठा। मेरा इरादा तो एक और दूकान खोलने का है।" साथ वाले ने उत्तर दिया—"ठीक है। भिड़े रहो। हमारा भी ध्यान रखना।"

मैं सोच रहा हूं, कौन-सी गत सही है?

श्मशानघाट पहुंचते ही लोग ग्रुपों में बंटकर जगह-जगह बैठ गए। कुछ चिता रचाने के गूढ़ कार्य में लगे हैं। चिता की लकड़ी जलाना भी एक तरह का टेक्निकल कार्य है। इसे हर कोई नहीं कर सकता। शवयात्रा में ऐसे दो-तीन टेक्निकल लोग शामिल रहते ही हैं। यहां भी थे। सभी एक जगह इकट्ठे हो गए। एक टेक्निकल ने कहा—"ये मोटी लकड़ी उधर सिर के नीचे रखो।" दूसरा टेक्निकल तत्काल विरोध के स्वर में बोला—"सिर पर नहीं छाती पर रखो। छाती जलने में ज्यादा टाइम लेती है।" एक तीसरे टेक्निकल जो इस मामले में इन दोनों से अपने आप को वरिष्ठ समझ रहे थे, थोड़ा झुंझलाकर बोले—"एक-दो मुर्दे क्या जला लिए, सोचते हो एक्सपर्ट हो गए? हमने सैकड़ों चिताएं रचाई हैं, और मजाल है कोई मुर्दा बिना जले रह गया हो। सब गलत-सलत लकड़ी जमाए चले जा रहे हो···उठाओ सबको। इस तरफ से शुरू करो। पहले नीचे में एक लाइन से अच्छी लकड़ी रखो। हवा का रुख देखकर लकड़ी जमाओ।"

तीनों लोग अपना-अपना एक्सपर्ट ओपिनियन दे रहे थे और कुछ लोग हाथ में लकड़ियां लिए असमंजस में खड़े थे, कि किस तरफ से लगाएं। मृतक बगल में लेटा हुआ राह देख रहा था, कि पहले ये लोग निपट लें फिर

मैं निपटूं।

थोड़ी दूर में खड़ा एक व्यक्ति कह रहा था—"कौन लाया है लकड़ी? सब गीली हैं। पिछली बार मैं लाया था। दस मिनट नहीं लगी थी आग पकड़ने में।"

मैं सोच रहा था कि दस मिनट भी लगे तो बहुत लग गए। इस आदमी ने जहां भी आग लगाई है, लपटें पकड़ने में मिनट भर की देर नहीं लगी है।

मृतक का रिश्तेदार चिता में आग लगाने आगे बढ़ा। कुछ अनुभवी लोग मार्गदर्शन कर रहे हैं—"हां···थोड़ा चिता की परिक्रमा कर लो। एक बार और···हां बस। अब इधर सिर की तरफ से अग्नि दे दो।"

उधर एक ग्रुप में बैठे कुछ परिचित लोग चिंता कर रहे हैं—"इसके लिए डोकरे ने कुछ छोड़ा है कि बस अंगूठा दिखाकर चला गया।"

मुझे पहली बार अहसास हुआ कि जहां सब कुछ छोड़कर जाने की स्थिति रहती है, वहीं प्राप्ति की लालसा बढ़ी हुई दिखती है।

चिता जल रही है।

कुछ अनुभवी लोग अभी भी चिता के चारों ओर घूम-घूमकर देख रहे हैं, कि चारों तरफ की लकड़ी में आग फैली है या नहीं। एक व्यक्ति बांस को चीरकर घी का लोटा बांधने में लगा हुआ है, ताकि समय पर कपाल-क्रिया का काम पूरा हो सके। कुछ लोग छेनों के टुकड़े करने में व्यस्त हैं जिससे सभी पंच लकड़ी दे सकें।

कुछ लोग अलग-अलग खेमों में बंट गए हैं। कोई किसी की समाधि के पक्के चबूतरे पर बैठा है, तो कोई जमीन पर उभरे पत्थर पर टिका है। कुछ लोग शेड में चले गए हैं। कुछ युवक सिगरेट पीने की तलब के कारण थोड़ा आड़ में हो गए हैं।

कहीं व्यापार-धंधे की बात हो रही है, तो कहीं शादी-ब्याह के संबंधों की बात चल रही है। एक ग्रुप में राजनीतिज्ञ जमा हैं। वहां राजनीति का पोस्टमार्टम किया जा रहा है। कुछ बुद्धिजीवी किस्म के लोग एक तरफ बैठे अपनी हांक रहे हैं। उधर एक पार्थिव शरीर जो धीरे-धीरे पंचतत्त्व में विलीन होता जा रहा है, उसका अस्तित्व लगभग समाप्त हो चुका है,

उसकी तरफ ध्यान देने की कोई जरूरत महसूस नहीं की जा रही है।

कुछ लिस्टेड हांकने वाले होते हैं, जो इस अवसर का पूरा लाभ उठाते हैं। अपने सभी प्रकार के अनुभवों का वखान करने का इससे अच्छा अवसर उन्हें अन्य कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये वे हर शवयात्रा में निश्चित रूप से शामिल होते हैं, और इन दो-तीन घंटों में लगभग पच्चीस-तीस विषयों पर अधिकृत रूप से तथा अधिकारपूर्वक अपनी टिप्पणियां करते हैं। शवयात्रा से निवृत्त होने के वाद वे स्वयं को अत्यधिक हल्का महसूस करते होंगे। इतना शायद अन्य किसी भी कार्य से सम्भव नहीं होता होगा।

चिता आधी, अधूरी जली नहीं कि आवाजें उठना शुरू हो गईं — कपाल क्रिया करो। शरीर जल चुका है।

लोग छेने के पांच छोटे-छोटे टुकड़े लेकर तैयार खड़े हैं। पंच लकड़ी डाली और लौटने की तैयारी शुरू। मृतक के रिश्तेदार अभी श्मशानघाट में ही खड़े हैं, और आधे से अधिक लोग आधे रास्ते तक लौट पड़े हैं। रास्ते में लोग एक-दूसरे से पूछ रहे हैं—"आज शाम का क्या प्रोग्राम है? मिल रहे हो क्या? वैठक जमे वहुत दिन हो गये हैं।" कुछ लोग वाजार की तेजी-मंदी में लगे हैं।

सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता तथा अन्तिम सत्य की स्थिति सब लोग भूल चुके हैं। भौतिक वस्तुओं की नश्वरता का चिंतन किसी के दिमाग में नहीं है। "सवकी यही गत्य है" का दर्शन मात्र एक कोरस का महत्त्व रखता है। इस शवयात्रा के विभिन्न सोपानों से साक्षात्कार करते हुए मुझे अनुभव हुआ, कि जहां आकर जीवन की वास्तविकता का दर्शन होना चाहिए वहां उसे अपने-अपने ढंग से एक सुअवसर वनाया जा रहा है।

वापस लौटते वक्त शवयात्रा के साथ ही पता नहीं क्यों मेरे सामने देश का चित्र उपस्थित हो गया। देश की संस्कृति, नैतिकता तथा चरित्र की शवयात्रा निकल रही है, और हम सव उस शवयात्रा में शामिल हैं। लेकिन कहीं कोई सोच नहीं, चिंतन नहीं, पीड़ा नहीं, संस्कृति जल रही है, और हम पूछ रहे हैं—"हमारे लिए कुछ छूटा है या नहीं?"

नैतिकता पंचतत्त्व में विलीन हो रही है, और हम देख रहे हैं—[illegible]

ठीक से पकड़ रही है या और एकाध तरफ से लगाई जाए।

चरित्र राख हो रहा है, और हम सोच रहे हैं—बहुत दिन हो गये, अच्छी बैठक नहीं जमी !

संवेदनाएं धुआं होकर उड़ रही हैं, और हमें कपालक्रिया की जल्दी पड़ी है। पीड़ा का व्यवसायीकरण हो गया है। चिता पूरी जली नहीं है, और हम जल्दी ही पंच लकड़ी डाल कर वापस लौट आए हैं।

शवयात्रा

लतीफ घोंघी

मंत्रिमंडल का विस्तार होने के पहले ही नेता जी चले गये। इन्ना लिल्लाहे व इन्ना अलेहे राजेऊन।

उन्होंने संकट के समय पार्टी को कन्धा दिया था। फिर उनकी पार्टी की सरकार बनी। वे सरकार को कन्धा देते रहे। आज लोग उन्हें कन्धा देने जमा हो रहे थे।

नेता जी अल्पसंख्यक वर्ग के थे। राजनीति के साथ जब यह शब्द जुड़ता है, तो मुख्यमंत्री भी ध्यान देते हैं। उन्होंने कहा था—इस बार जरूर आप को लेंगे···अभी आलाकमान से बात करना बाकी है···आप थोड़े दिनों तक संगठन का काम देखिए।

और संगठन का काम देखते-देखते ही उनकी रूह कब्ज हो गई। मौत का फरिश्ता आया और उन्हें ले गया पूरे राजकीय सम्मान के साथ। यही आलाकमान का हुक्म था। सिर-आंखों पर। उसके सामने हम सिर्फ नत-मस्तक ही हो सकते हैं, और नेता जी की ही भाषा में कहें तो सिजदा ही कर सकते हैं।

जनाज़ा जोहर की नमाज के बाद निकलेगा। कुछ लोग छत्तीसगढ़ एक्सप्रेस से आनेवाले हैं। मुख्यमंत्री के संवेदना सन्देश की भी प्रतीक्षा है। दिल्ली से भैया जी ने हॉट-लाइन पर शोक व्यक्त किया है, और कहा है कि अल्पसंख्यकों के लिए यह एक आघात है, जिसे सहने-करने की शक्ति ईश्वर प्रदान करे। जिला पार्टी के अध्यक्ष और कोषाध्यक्ष व्यक्तिगत रूप से मिलने आ चुके थे। अखबारों मे अलसुबह उनके दुःखद निधन का समाचार आ चुका था, इसलिये कोई चिन्ता की बात नहीं थी। सहकारिता, विद्युत, मंडी,

सिंचाई, लोक निर्माण, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, शिक्षा विभाग, जंगल डिपार्टमेंट, पुलिस आदि से लेकर नगरपालिका तक सभी प्रभारी-अधिकारी एक वार आ चुके थे। कृषि विभाग वाले भोपाल गये थे, इसलिये नहीं आ सके। लगभग सभी विभागों ने अपनी श्रद्धांजलि दे दी थी। स्थानीय मान्यता यह थी कि ये सारे विभाग अव तक नेता जी के कन्धों के नीचे थे। ट्रांसफर से लेकर प्रमोशन तक। नेता जी ने हर अधिकारी को अपना वहु-मूल्य कन्धा दिया था।

नेता जी अन्तिम समय तक खादी के कपड़ों में रहे। वैठक में लोभान और उदवत्ती का मिला-जुला धुआं अभी तक था। कुछ लोग आयतल कुरसी पढ़ रहे थे। एक सफेद चादर से मय्यत को ढांक दिया गया था। बड़े भाई साहव ने सिर पर रूमाल वांध रखा था। जो लोग वैठक में आते, उन्हें वड़े भइया डवडवाई आंखों से देखते। जैसे कहना चाहते हों—हमारा तो सव कुछ लुट गया···अव मंत्रिमंडल का विस्तार हो भी जाये तो क्या!

नेता जी की वैठक में इस फानी दुनिया का एहसास होता था। वाहर आंगन में कुछ कुरसियां रखी थीं। दो चारपाइयां भी लगी थीं। जिस पर युनूस भाई अण्डेवाले, इदरिस भाई उदवत्ती वाले, निजाम भाई प्रेस वाले और वावा मिस्त्री जमे थे। याकूव भाई चक्की वाले, नजीर भाई और काजी साहव दूसरी खाट पर थे। कुरसियां सरकारी विभाग के अच्छे लोगों के लिए थीं, जिस पर कुरैशी साहव, हक साव, खान साहव, नवाव मियां और तौकीर वावू वैठे थे।

मैं और वब्बू मियां अस्लाम अलैकुम कहते हुए इन कुरसियों की ओर वढ़ गये। खाटवालों ने हमें घूरकर देखा। मेरी वात तो समझ में आती थी, लेकिन वब्बू मियां का खाट से कुरसी का वढ़ता स्तर लोगों को नागवार गुजर रहा था। अव हम उन्हें क्या वताते कि सभी को एक दिन उसी रास्ते पर जाना है।

कुरैशी साहव मंडी वाले मुझे देखकर वोले—आइए···इधर आइए··· मैं जानता था। आप आयेंगे ही, इसीलिये आपके वास्ते कुर्सी खाली रखी है।

वात दरअसल यह थी कि वे वहुत देर से वाहर अकेले वैठे-वैठे वोर

हो रहे थे, और उन्हें अपने लायक मुस्लिम जमात में बात करनें वाला कोई आदमी नहीं मिल रहा था।

मैंने कहा—सुनाओ···कब तक निकलेगा जनाज़ा ?

वे बोले—वह तो उसी दिन निकल गया, जब अध्यक्ष का चुनाव हुआ था मंडी में। ईमानदारी से काम किया तो इसका नतीजा यह हुआ कि सालों ने मुझे आउट आफ डिविज़न पांढुर्ना में फेंक दिया···अब हालत तो तुम देख ही रहे हो मंडी की। रोज व्यापारी धान खरीदी बंद कर रहे हैं। किसान परेशान हैं सो अलग। अब हम लोग मौमवाले हो जाते हैं···दब के रहो तो भी यही हाल है।

मैंने उन्हें याद दिलाया कि मैं नेता जी के जनाजे की बात कर रहा हूं।
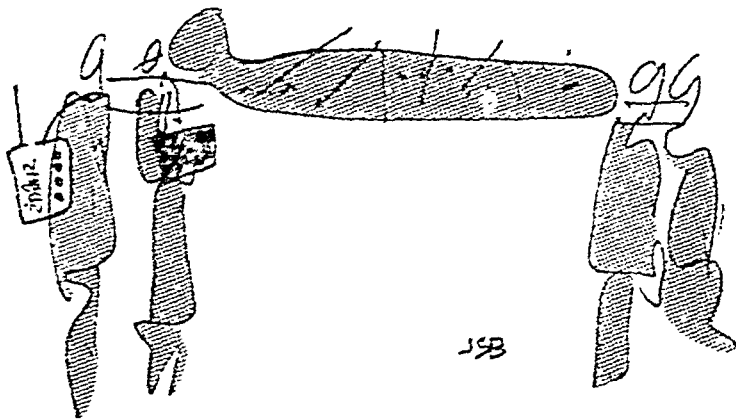
शवयात्रा

कुरैशी साहब चुप हो गये। बब्बू मियां ने मेरी ओर देखा और जेब से गोला बीड़ी का कट्टा निकालकर मिट्टी तेल वाला लाइटर जलाने में लीन हो गये।

तब तक याकूब गुरुजी भी आ गये। बब्बू मियां उन्हें देखकर बोले—क्यों हो गुरुजी, बच्चों की छुट्टी कर दी क्या ?

जैसी कि गुरुजी की भीतर ही मुस्कुराने की आदत थी, वे कुछ इसी स्टाइल से अल्पसंख्यक मुद्रा में हँसे। बोले—जब से सरकार ने दस धन दो धन तीन प्रणाली शिक्षा जगत में लागू की है, बस छुट्टी ही समझो। लड़कों

के दिमाग में कुछ घुसता ही नहीं···ईमान से, हम इस नयी शिक्षा नीति के नाम से परेशान हैं। अभी तक सरकारी किताबें छपकर नहीं आई हैं···अब छुट्टी न दें तो क्या अपना सिर पीटें?

मैंने कहा—डी० ओ० साहब से ठीक पट रही है या नहीं?

वे बोले—पटा के रखना पड़ता है। उनके लिए तो सौ खून माफ हैं, लेकिन इधर अपने वालों से गलती हुई नहीं कि तुरन्त ट्रांसफर आर्डर मिल जाता है, पेट लगा है, इसलिए डरकर और दबकर सरकारी नौकरी में लगे हैं।

बात चल रही थी कि मछली वाले साहब अस्सलाम अलैकुम कहते हुए इसी तरफ आ गए। बब्बू मियां ने कहा—यार मछली साहब···एकाध दिन हमको भी खिलाओ यार मच्छी-वच्छी। हम भी तो देखें सरकारी मच्छी का टेस्ट।

मछली साहब बोले—अरे क्या खिलायें तुमको · साले अपने बड़े आफिसरों से बचे तब ना। अपना डिपार्टमेंट भी इतना खौउवा हो जायेगा, इसकी मुझे उम्मीद नहीं थी। जनता जाये भाड़ में, बस उनके पेट में मच्छी डालते रहो।

बाहर का माहौल देखकर लगता भी नहीं था कि लोग नेता जी की गमी में आये हैं। अन्दर बैठक से अभी भी लोभान और उदबत्ती की खुशबू आ रही थी। देखा तो अपने वाले नेता जी आ रहे थे। सब लोग खड़े हो गये। यही बात तो हम लोगों में अच्छी है। वैसे अपने नेता जी जनता शासन में मंत्री रहे। ये बात अलग है कि अब जनता पार्टी नहीं रही, लेकिन अपनी कौम के लोग अभी भी अपने नेता जी की इज्जत करते हैं।

पहले वे बैठक में गये। वहां थोड़ी देर सत्ता की इस मैयत को देखा और दोनों हाथ सामने बांधकर कुछ पढ़ते रहे। जनता शासन में जब वे विधान सभा में किसी प्रश्न का उत्तर देते, तो भी अपने दोनों हाथ सामने बांध लेते थे। जनता पार्टी राहे-लिल्लाह में चली गई, लेकिन उनकी यह आदत अभी भी बनी है। सान्त्वना देने के लहजे में उन्होंने बड़े भइया के कन्धे पर हाथ रखा और बोले—मौत तो बरहक्क है···एक दिन सभी को जाना है··· हिम्मत से काम लो और खुदा पर भरोसा रखो।

वड़े भइया कुछ नहीं वोले। अभी भी वे अपनी आंखें मिचमिचा रहे थे, जैसे कहना चाहते हों—क्या भरोसा रखें खुदा पर? हमारा तो सव कुछ वरवाद हो गया। हम लुट गये।

अव अपने नेता जी हमारे वीच आ गये थे। मुझे लगा जैसे प्रतिपक्ष ने सरकार को एक श्रद्धांजलि दी और जनता के वीच आ गया।

वव्वू मियां अभी तक चुप थे। अपने नेता जी को देखकर उन्होंने मुझे कुहनी मारी और धीरे से कहा—अपने नेता जी से कुछ वात कर लो यार··· जनपद की कुछ जमीन और मिल जाती, तो मैं अपनी दुकान वढ़ा लेता।

अव वाहर सव लोग अपने नेता जी को घेरकर वैठे थे। खाटवालों ने अपनी खाटें पास सरका ली थीं। कुछ और सरकारी विभाग वाले भी आ गये थे। मौत का एहसास केवल वैठक में ही होता था। अपने नेता जी ने मोअज्जम साहव को वुलाकर कहा—अव गुस्ल की तैयारी कीजिये। वक्त काफी हो चुका है।

मुझे देखकर नेता जी वोले—क्या लिख रहे हो आजकल? वहुत दिनों से कोई अच्छा व्यंग्य नहीं देखा तुम्हारा?

मैंने कहा—आप ही कोई अच्छा-सा प्लाट वताइए ना?

वे वोले—इस भ्रष्ट व्यवस्था में प्लाट की क्या कमी है···सरकार के हर महकमे में भ्रष्टाचार की जड़ें मजवूत हो रही हैं···ऊपर से दिखने वाली चमक-दमक के पीछे एक खोखलापन रह गया है···महंगाई इस कदर वढ़ रही है, कि सांस लेना भी मुश्किल है और ऊपर वैठे लोग विदेशों में घूम-घूमकर अपनी छवि वना रहे हैं। मैं कहता हूं कि हमें इसके विकल्प के लिए एक सही प्रतिपक्ष की जरूरत है। हम भी मंत्री रहे जनता शासन में··· हमारी भी सरकार रही, लेकिन रेल किराया और कीमतें हमने नहीं वढ़ने दीं। स्वच्छ प्रशासन का दावा करने वालों को शायद नहीं मालूम कि अस्पताल से लेकर राजधानी तक, विना पैसे दिये कुछ काम नहीं हो रहा है। आज हम होते तो···

मैंने वीच में ही कहा—सही वात तो यह है कि जनता पार्टी को ही कन्धा दे दिया आप लोगों ने।

जनाज़ा वाहर आ गया था। जनाज़े में शमिल होने के लिए लोगों ने

अपने सिर ढंक लिये थे। हमारी बातों का सिलसिला टूट गया। सरकारी विभाग के चार अफसर सबसे आगे थे। उन्होंने ही जनाज़े को पहला कन्धा दिया। सत्ता का जनाज़ा था, फिर वे कैसे पीछे रहते ?

कलमा-ए-शहादत के साथ नेता जी का जनाज़ा उठा। लोगों ने अपने चेहरों पर उदासियां ओढ़ लीं। मैं और बब्बू मियां इन्तजार में थे कि अच्छा मौका देखकर मैयत को कन्धा देकर अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जायें। व्यवस्था में अपनी भागीदारी का हमें पूरा ध्यान था।

श्रद्धांजलि

लतीफ़ घोंघी

हर शहर में दो-चार महान टाइप के लोग रहते हैं। वे भी इतनी टाइप के हैं। दूसरी आदतों के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है, लेकिन उनकी एक आदत बहुत अच्छी है कि वे श्रद्धांजलि देने में पक्के हैं। उधर कोई मरा नहीं कि वे श्रद्धांजलि देने के लिए मरे जाते हैं। जिस प्रकार प्रेशर आने के बाद आदमी फड़फड़ाने लगता है, उसी तरह श्रद्धांजलि के प्रेशर से वे छटपटाने लगते हैं। कब निकले और उन्हें शांति मिले। बस, यही उनकी महानता है।

उन्होंने मुझे बताया था कि उनकी जिंदगी के केवल दो उद्देश्य हैं। पहला यह कि देश के अधिक से अधिक लोगों को श्रद्धांजलि देना और दूसरा यह कि चाहे किसी की बारात में भले ही न जाओ, लेकिन शोकसभा हो रही हो तो बिना बुलाये पहुंच जाओ और सबसे आगे ठसकर बैठ जाओ। इन दो महान कार्यों के लिए ही उन्होंने अपना जीवन बर्बाद कर दिया। यह उनका सौभाग्य था कि इधर मरने वालों की संख्या में एकाएक वृद्धि हुई, और उन्हें श्रद्धांजलि के अलावा दूसरे कामों के लिए समय नहीं मिल पाता था। एक आदमी को श्रद्धांजलि देकर आये, हाथ-मुँह धो भी नहीं पाते कि खबर आती कि पड़ोसी चल बसा। वहां गये तो अखबार में देखा कि विदेश में कोई मर गया। इधर अपने देश को निपटाया और विदेश में को श्रद्धांजलि देने की तैयारी शुरू कर दी। कभी-कभी तो लोगों को उनकी श्रद्धांजलि के कारण ही पता चलता था कि उनके बीच का कोई आदमी पंचतत्त्व में लीन हो गया है।

ईश्वर ने उन्हें कद-काठी भी कुछ इसी पुनीत कार्य के अनुरूप ही दी

थी। लगता था, जैसे वे भारत भूमि पर केवल श्रद्धांजलि देने के लिए ही पैदा हुए हैं। उनकी आंखें हमेशा डबडबाई रहती थीं। लगता था जैसे अब तक रो ही देंगे। चेहरा देखकर ही कोई भी कह सकता था कि इस आदमी के परिवार में कोई जबरदस्त गमी हुई है। उनका बात करने का ढंग भी
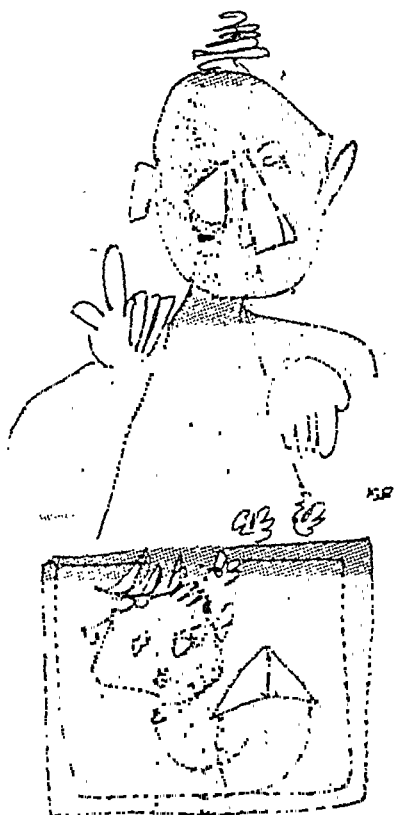
बिल्कुल श्रद्धांजलि देने के टाइप ही था। पिछले विधान सभा चुनाव में एक उम्मीदवार हार गये तो मैंने उनसे प्रतिक्रिया जानना चाही। उन्होंने चेहरे पर गंभीरता लाकर कहा—आदमी अच्छा था...लेकिन होनी को कौन टाल सकता था...भगवान उनके शोक-संतप्त परिवार को यह दुःख वहन

करने की शक्ति दे ।

मैंने उनसे पूछा—श्री जी, आपको यह श्रद्धांजलि देने का चस्का कहां से लग गया ?

वे बोले—हमारा तो खानदानी धंधा है। पिताजी का तो इस क्षेत्र में इतना नाम था, कि जब तक उनकी श्रद्धांजलि नहीं हो पाती थी, नगर में किसी की काठी नहीं उठती थी। उस समय मैं छोटा था। उनके साथ जाता था, और दो मिनट का मौन रख-रखकर मेरा आत्मविश्वास पक्का हो गया।

थोड़ी देर के लिए वे रुके, फिर बोले—पिताजी कहते थे, बेटा ! हम गरीब देश के गरीब नागरिक हैं · किसी को श्रद्धांजलि के अलावा और कुछ नहीं दे सकते···इसलिए मेरे मरने के बाद तुम हमारे इस वंश की परम्परा को आगे बढ़ाना।

इतना कहने के बाद वे दो मिनट के लिए मौन हो गये। आंखें नीची कर लीं। मैंने पूछा—श्री जी, ये क्या कर रहे हैं आप ? वे बोले—पिताजी को एक बार और श्रद्धांजलि दे रहा हूं। उनके ही आशीर्वाद से नगर के प्रतिष्ठित लोगों में आज मेरा स्थान है। कभी घर पर आइये तो मैं आपको वह डायरी दिखाऊंगा जिसमें मैंने उन लोगों के नाम और पते लिख रखे हैं, जिन्हें मैं आज तक अश्रुपूरित श्रद्धांजलियां दे चुका हूं।

मैंने फिर मजाक के मूड में पूछा—आजकल धंधा कैसा चल रहा है ? वे बोले—मंदा है जी···बिल्कुल मंदा···देखो ना पिछले दो महीने से कोई नहीं मरा इस शहर में। डाक्टरों से रोज पूछ रहा हूं कि डाक्टर जी कोई सीरियस हो तो पहले मुझे बताना, लेकिन सरकारी अस्पतालों में भी अब खुजली, खांसी के अलावा कुछ नहीं बचा।

—फिर आपका टाइम कैसे कटता है ?

—कटता क्या है जी. बस काट लेते हैं उदास होकर। रात में सोते समय सपना आता है, कि अनाज मंडी से कोई चल बसा। सुबह उठते हैं तो पता चलता है कि दिल्ली गया है। सच बताते हैं जी, रोज सपने आते हैं कि कभी ये जा रहा है तो कभी वो जा रहा है, लेकिन सब साले यहीं के यहीं हैं।

—फिर क्या सोचा है आपने ?

—सोच रहा हूं महीना-पंद्रह दिनों के लिए चंडीगढ़ चला जाऊं। इस तरह यहां रहकर तो कुंठित हो जाऊंगा। श्रद्धांजलि और साहित्य में कोई बहुत अंतर नहीं है जी। आदमी जल्दी कुंठित हो जाता है। मेरा भी सृजन दो माह से ठप्प है। बीच में छत्तीसगढ़ एक्सप्रेस पटरी से उतरी थी तो मैं प्रसन्न हो गया था, लेकिन पता चला कि उससे कोई नहीं मरा। मुझे तो लगता है कि अपनी सरकार मरने वालों के आंकड़े बताना नहीं चाहती। अब तो मैंने नियम बना लिया है कि रोज रेलवे स्टेशन जाता हूं, और देखता हूं कि कितने लोग अपने नगर से दिल्ली जा रहे हैं। उनके नाम अपनी डायरी में लिख लेता हूं और उनके घर पर पता लगाता रहता हूं। जाने कब मौका लग जाये! अपने देश में कोई भरोसा नहीं है जी।

मैं उनके आशावादी दृष्टिकोण से प्रभावित हुआ। कितना जीवट का आदमी है। कितनी लगन है उसे अपने काम से। महान लोगों के यही लक्षण होते हैं। जिसके पीछे लगते हैं, बस निष्ठापूर्वक ही लगते हैं।

मैंने कहा—आप बुरा न मानें तो एक सलाह दूं। वे बोले—बिल्कुल दीजिये जी। हम उन लोगों में से नहीं हैं कि बुरा मान जाएं। लोग तो हमें मुंह पर गालियां देते हैं, लेकिन बदले में हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं, कि भगवान हमें उस गाली देने वाले को शीघ्र श्रद्धांजलि देने का अवसर प्रदान करे।

मैंने कहा—टाइम पास करने के लिए आप एक काम कीजिये···यह व्यक्तिपरक श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त कुछ संस्था और स्थितिपरक श्रद्धांजलियों में भी रुचि दिखाइये। इससे एक लाभ होगा कि जब कभी 'श्रद्धांजलि पर एक अनुशीलन' के रूप में शोधकार्य होगा, तो उसमें आप श्रद्धांजलि प्रवर्तक के रूप में स्थापित व्यक्ति माने जायेंगे।

वे बोले—मैं समझा नहीं जी। कुछ उदाहरण देकर समझाइये। पिताजी जब किसी को श्रद्धांजलि देकर आते थे, तो घर पर मुझे उदाहरण सहित इसकी महत्ता समझाते थे।

मैंने कहा—देखिए, कोई बड़ा अधिकारी रिश्वत लेते हुए पकड़ा जाए तो आप व्यवस्था को श्रद्धांजलि दीजिये···सरकार जब कोई नया टैक्स

लगाये तो आप सरकार को श्रद्धांजलि दीजिये···नसबंदी के बाद किसी के घर बच्चा पैदा हो जाये तो आप स्वास्थ्य मंत्री को श्रद्धांजलि दीजिये··· बलात्कार का मुलजिम यदि छूट जाये तो आप भारतीय पुलिस को श्रद्धांजलि दीजिये···दहेज के कारण कोई बहू जल जाये तो आप समाज को श्रद्धांजलि दीजिये···कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाये तो आप धर्म को श्रद्धांजलि दीजिये···बस, इसके बाद तो आपको श्रद्धांजलि के नये आयामों की जानकारी आप से आप होने लगेगी। इस बीच कोई न कोई बड़ा आदमी मर ही जायेगा। कुंठा से बचने का यही तरीका है।

वे प्रसन्न हुए। बोले—पाजामा उठाइये जी। मैंने पूछा—क्यों? वे बोले—सचमुच आप महान हैं। मैं आपके चरणों को श्रद्धांजलि देकर ही इसकी शुरुआत करना चाहता हूं।

मैंने भी अपने चरण आगे बढ़ा दिये। जीते-जी यह सुख भी देख लूं अपने देश में।

श्रद्धांजलि

ईश्वर शर्मा

श्रद्धांजलि देनेवाले लोग भी वड़े माहिर होते हैं। मरनेवाले की पता नहीं
ौन-कौन-सी अच्छाई खोज लाते हैं। मृतात्मा को भी शायद उन
च्छाइयों की जानकारी जिन्दगी भर न हो पाई होगी। वेचारा !! अपनी
तनी सारी अच्छाइयों की जानकारी हुए विना ही चल वसा। उम्र भर
से अफसोस वना रहा कि समाज के लिए उसका क्या उपयोग है? वह तो
वल 'मनुष्यरूपेण भूवि भार भूता' है, और भारमुक्त कर गया इस
रती को।

अव ये श्रद्धांजलि देने वाले पता नहीं कितनी विशेषताएं गोता मार
र ढूंढ़ लाते हैं। मृतक निःस्पृह समाजसेवक और सच्चा राष्ट्रभक्त था।
नेरूपित किया जा रहा है। मृतक मरते वक्त तो वड़े चैन से मरा था।
लो, छुट्टी हुई लेकिन अव उसकी आत्मा वेचैन है। यह सोच-सोचकर
रेशान है, कि उसमें राष्ट्रभक्ति और समाज-सेवा की भावना कव थी।
एक वार काफी वड़ी भीड़ में कई दुकानें लुटी थीं। वह भी वहती गंगा में
हाथ धो आया था। यदि इसे ही राष्ट्रभक्ति माना जा रहा हो तो अलग
वात है, और कोई दूसरा राष्ट्रभक्ति का कांड तो उसे याद नहीं आ रहा
है।

समाजसेवा से तो उसका दूर-दूर तक कोई रिश्ता ही नहीं था। हां,
शहर के मध्यभाग से लगी झोपड़पट्टी में कुछ विशेष लोगों के कहने तथा
कुछ प्राप्ति की आशा में, उसने अर्द्धरात्रि आग लगाई थी। सभी झोपड़ियां
उन गरीव भिखमंगों के गंदे सामानों सहित जल गई थीं। अव उस जगह
पर वड़ी-वड़ी इमारतें वन गई हैं। अच्छा मनमोहक पार्क वन गया है।

एक चमक-दमक वाला शापिंग सेंटर भी है। अब शहर खूबसूरत लगने लगा है। मृतात्मा सोच रही है, शायद इसे ही समाज-सेवा माना जा रहा है।

इस पतित पावनी धरती पर दिवंगत होने वाली प्रत्येक मृतात्मा स्वर्गीय होती है। व्यक्ति उम्र भर पाप करता है। जितने कुकर्म परमपिता परमेश्वर ने बनाए हैं, उन्हें भोगता है। जिंदगी भर कई लोगों का जीवन नर्क कर देता है, लेकिन जब मरता है, तो निश्चित रूप से स्वर्गीय हो जाता है। उस व्यक्ति की जिंदगी में जितने लोग उसके सम्पर्क में आते हैं, वे सभी उसे बददुआ देते हैं—नरक में पड़ो···नरक के कीड़े बनो आदि-आदि··· लेकिन श्रद्धांजलि देने वालों के कथनानुसार वह मरकर सीधे स्वर्ग पहुंच जाता है। यह श्रद्धांजलि देने वालों का ही कमाल है। वे बड़े से बड़े नारकीय को स्वर्गीय बनाकर स्थापित कर देते हैं।

श्रद्धांजलि की भाषा बड़ी मंजी हुई होती है। इतनी प्रभावशाली कि लोग न चाहते हुए भी मृतक के प्रति संवेदनशील हो उठते हैं। "मृतक गरीबों के मसीहा और सही मायने में त्यागमूर्ति थे।" श्रद्धांजलि देने वालों की भाषा के अर्थ भी सामान्य अर्थ से हटकर निकलते हैं। मृतक ने अपने मां-बाप को घर से निकाला, कई स्त्रियों के उद्धार के लिए पत्नी का त्याग किया। इसी से लगता है कि सही मायनों में त्यागमूर्ति था। "युवाशक्ति उससे प्रेरणा लेती थी।" शहर के हर मुहल्ले में युवाशक्ति की रचनात्मकता दिखाई पड़ रही है। "स्वर्गीय आत्मा ने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र को समर्पित किया था।" अब जिस व्यक्ति के घर में पत्नी, मां-बाप, नाते-रिश्तेदार कोई न हो, जो व्यक्ति समाज से ही उगाही कर खाता-पहनता हो, जिसके पास स्वयं की कोई जिम्मेदारी न हो, उसका जीवन तो राष्ट्र को समर्पित होगा ही। सच पूछिए तो यह राष्ट्र ही धन्य है, जहां हजारों-लाखों की संख्या में अपना जीवन समर्पित करने वाले लोग राष्ट्र में अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। राष्ट्र उन्हें ढो रहा है। राष्ट्र के सारे लोग उन्हें अपने सिरों पर लादे बोझ से दबे जा रहे हैं।

इन श्रद्धांजलि देने वालों का मैं हमेशा से प्रशंसक रहा हूं। जिंदगी में न सही, मरने के बाद तो कम-से-कम वे मृतक को महान बना ही देते हैं।

मुश्किल केवल यह है कि इन श्रद्धांजलिदाताओं की संख्या बहुत कम होती है। प्रत्येक नगर में ऐसे जागरूक श्रद्धांजलिदाता मात्र दो-चार की संख्या में ही होते हैं, लेकिन मजाल है कि कोई व्यक्ति इनकी नजरों में आए विना ही मर जाए। यदि मर गया तो उसे स्वर्ग कौन भेजेगा ?

किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य गिरा नहीं कि लोग उसे देखने पहुंच जाते हैं। चलो अंतिम वार मिल आएं। पता नहीं फिर मिलना हो या न हो और ये श्रद्धांजलिदाता शोक संदेश वनाने की तैयारी शुरू कर देते हैं। रटे-रटाये शोक संदेश के प्रोफार्मा में मृतक का नाम भर वदल देना है। वाकी वातें तो सव वही घिसी-पिटी हैं। लेकिन श्रद्धांजलि देने वाले उस व्यक्ति के मरते तक चाक-चौवन्द वने रहते हैं। ऐसा न हो कि वे किसी कार्य में फंसे रहें और मृतक जयहिन्द हो जाये। श्रद्धांजलि का सुअवसर कहीं हाथ से न निकल जाए, इसलिये वे सतर्क रहते हैं।

एक वार तो ऐसा हुआ कि वहुत दिनों से मरने की तैयारी में लगे एक वीमार व्यक्ति के मरने की अफवाह शहर में उड़ गई। श्रद्धांजलिदाता ने एक भावभीनी श्रद्धांजलि टाइप करवाई और लेकर समाचारपत्रों के दफ्तर पहुंचे। मजमून इस प्रकार था—"फलाने व्यक्ति की असामयिक मृत्यु से राष्ट्र और समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। भावविह्वलता इतनी अधिक है, कि हम अपने उद्गार शब्दों में प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। ईश्वर मृतात्मा को शांति प्रदान करें तथा उनके शोक-संतप्त परिवार को यह असीम दुःख सहन करने की क्षमता प्रदान करें।"

दूसरे दिन अखवारों में यह श्रद्धांजलि छप गई और उधर पता चला कि वह खवर मात्र अफवाह थी। मैंने श्रद्धांजलिदाता से कहा—चलो अच्छा हुआ कि राष्ट्र और समाज अपूरणीय क्षति से वच गया।

उन्होंने झल्लाकर कहा—क्या खाक वच गया···जिंदा रहकर भी कौन-सा उद्धार किए दे रहे हैं ? मेरी जो वदनामी हो रही है, उस क्षति की पूर्ति कौन कर सकेगा ? महीनों से पड़े हुए हैं विस्तर पर···ये तो नहीं कि चलो छुट्टी करें। जाते-जाते मेरी भी वेइज्जती करा गये। देख लेना अव मरेंगे तो कोई नामलेवा भी नहीं रहेगा।

मैंने उन्हें थोड़ा ढाढ़स वंधाते हुए कहा—जाने दीजिए···उसका क्या

है, आज नहीं तो कल मरेगा। आपको तो पता नहीं अभी कितनों को श्रद्धांजलि देना है। आप क्यों हताश होते हैं ?

मेरी सांत्वना से वे थोड़े हल्के हुए। मैंने उनसे पूछा—आप मृतकों के लिए इतनी मेहनत करते हैं ''आखिर आपको क्या हासिल होता है ?

उनके चेहरे पर चमक लौट आई। बोले—हमारा नाम अखबारों में छपता है, रेडियो-टेलीविजन पर आता है।

सही भी है। नहीं तो इन श्रद्धांजलिदाताओं ने अपनी जिन्दगी में ऐसा कौन-सा तीर मार लिया है, जो इनका नाम अखबारों में छपने का मौका आए। इसी बहाने वे मृतक की पीठ पर अपनी दीवार खड़ी कर लेते हैं।

मैंने थोड़ा उन्हें लपेटने वाले अंदाज में पूछा—लेकिन इसके लिए तो आपको काफी मेहनत और बहुत खर्च करना पड़ता होगा ?

वे बोले—कैसी मेहनत ''और काहे का खर्च। केवल थोड़ी-सी टाइपिंग करवानी पड़ती है। वह भी नहीं हुई तो हाथ से लिखकर काम चला लेते हैं।

मैंने कहा—क्यों ''शोकसभा आयोजित करनी पड़ती है। सभा की व्यवस्था, दरी-गद्दों की व्यवस्था, लोगों को इकट्ठा करने की भाग-दौड़, तब कहीं जाकर दो मिनट की हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते होंगे।

वे सज्जन अपनी विस्फोटक हंसी के लिए नगर में काफी विख्यात हैं। मेरी यह बात सुनते ही उनका अट्टहास विलंबित लय में शुरू हो गया और मैं शास्त्रीय संगीत के श्रोता की तरह अवाक् मुंह फाड़े उन्हें देखता रहा। विलंबित अलाप के पश्चात् जब वे सम पर गिरे, तो मुझे नासमझ के अंदाज में देखते हुए बोले—श्रद्धांजलि देने के लिए शोकसभा आयोजित करने की क्या जरूरत है ? केवल कागज पर लिख देने भर से काम चल जाता है।

मैंने थोड़ा प्रतिरोध करते हुए कहा—लेकिन आपने तो इस शोक-संदेश में लिखा है कि मृतात्मा को एक शोकसभा आयोजित कर मौन श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

"वह तो ऐसा लिखा ही जाता है। अब तुम्हीं बताओ कभी किसी ने इस बात का खंडन किया है कि शोकसभा आयोजित नहीं की गई थी।"

उन्होंने मुझे उड़ाने वाले भाव से देखते हुए प्रतिप्रश्न किया।

सच तो है। और शोकसभा की ही बात क्या, लोगों ने तो कभी मृतक की श्रद्धांजलियों में बताए गुणों का भी विरोध नहीं किया। श्रद्धापूर्वक उन सभी गुणों को झेल लिया। मौका लगा तो स्वयं भी दुहरा दिया। मूर्तिपूजा और मृतपूजा इस देश में यही अच्छाई है। व्यक्ति जिंदगी चाहे जैसी बिता ले, मरने पर तो हम उसे महान बनाकर ही मानते हैं। जिन्हें महान बनना हो, उन्हें जिंदगी भर त्याग-तपस्या कर इस वैभवशाली भौतिक जीवन के सुखों को ठुकराने की जरूरत नहीं है। एक दिन मरना तो सबको है। उस दिन उन्हें स्वर्गीय बना देने की जिम्मेदारी कई लोग वहन किए हुए हैं।

मैंने श्रद्धांजलिदाता को थोड़ा मक्खन मारते हुए कहा—दादा, थोड़ा हमारा भी ख्याल रखना।

उन्होंने मंद-मंद मुस्कुराते हुए कहा—हमारी तरफ से आज मर जाओ और फिर देखो हम तुम्हें कहां पहुंचाते हैं?

वे चले गए और मैं सोच रहा था—अभी और मरने की जरूरत बाकी है क्या? व्यक्ति पता नहीं दिन भर में कितनी बार मरता है, लेकिन लोगों की हार्दिक सम्वेदना के लिए किसी और ढंग से मरने की जरूरत है!

बिदाई

लतीफ घोंघी

उन्होंने विदाई समारोह के लिए हां जरूर कह दी थी, लेकिन अन्दर ही कहीं महसूस कर रहे थे कि वे इस लायक कतई नहीं हैं। बड़े आदमी इसी ढंग से सोचा करते हैं। उनकी भी आदत थी कि जो भी आता, उसके सामने हाथ जोड़कर कहते—मैं इस लायक नहीं हूं।

वे बड़े थे। कोठी थी। कार थी। नौकर थे। दस-बीस लोग आगे-पीछे घूमने वाले थे, लेकिन धंधा उनका लूटमार का ही था। बड़ी शालीनता से लूटते थे। वे जिस गैंग से जुड़े थे, उस गैंग का अपना संविधान था। 'लूटमार सेवादल' में पहले भरती होना पड़ता था। महानगर में कुछ लोग बैठकर लूटमार की आचार-संहिता बनाते थे, और बड़ी स्क्रूटनी के बाद ही यह तय किया जाता था कि अमुक उनके गैंग के लायक है। जब यह सब हो जाता था, तब अन्त में यह भी देखा जाता था कि उन्हें जनमत हासिल है भी या नहीं।

वे भी पहले सेवादल में भरती हुए थे। इस व्यवसाय के प्रति उनके मन में लगन थी। महानगर के लोग इस लगन को निष्ठा कहते थे, फिर उन्होंने अपनी इस निष्ठा को और भी मांजा, तब कहीं जाकर ऊपर वालों को लगा कि अब वे उनके लायक हो गये हैं।

होता यह था कि जो आदमी इस निष्ठा परीक्षण में खरा उतरता था, उसे वे पांच साल के लिए एक क्षेत्र अलाट करते थे। पहले कुछ दिनों के लिए ट्रायल के रूप में उन्हें कोई बड़ा कस्बा या छोटा शहर ही दिया जाता था। लूटमार के सिद्धान्त सिखाये जाते थे। सिद्धान्तों पर तर्क देना सिखाया जाता था। बहुत ठोक-बजाकर ही उन्हें गैंग का सिपाही स्वीकार किया

जाता था।

पांच सालों तक निष्ठापूर्वक लूटमार करने के वाद ऊपर से आदेश आ गया कि इलाका छोड़ दो। ऊपर से यह भी कहा गया था कि अव गैंग को उनकी उच्चस्तरीय सेवाओं की जरूरत है। जिस अंचल में उन्होंने लूट-मार में इतनी प्रतिष्ठा अर्जित की थी, वहां से विदा होने पर उन्हें दुःख भी हो रहा था, लेकिन ऊपर का आदेश सर-आंखों पर।

यह विदाई समारोह इसी उपलक्ष्य में आयोजित किया गया था।

बुद्धिजीवी होने के नाते वे मेरा सम्मान करते थे। मैंने कहा—आप चले जायेंगे तो लोगों को फिर चैन से सोने की आदत पड़ जायेगी। आपने इस क्षेत्र को जागृति दी थी। लोग रात में या तो दारू पीकर जागते थे या किसी और वहाने से। यह जन-जागरण आपके कारण ही था। लुटने का डर वना रहे तो आदमी हमेशा जागता रहता है।

उन्होंने कीमती सिगरेट जेव से निकालकर विदेशी लाइटर से सुलगाई। एक लम्वा कश लिया और वोले—आना-जाना तो लगा ही रहता है। मेरे वदले किसी दूसरे कार्यकर्ता को भेज दिया जायेगा। आप लोगों से दिल इतना मिल गया था कि विछड़ने का दुःख तो मुझे है, लेकिन हमें ट्रेनिंग में सवसे पहले यही सिखाया जाता है कि ऊपर से जो भी आदेश हो, उसका पालन पहले करो।

मैंने कहा—यदि आप कहें तो सौ-दो सौ लोगों के अंगूठे लगवाकर ऊपर दरख्वास्त लगा दूं ?

वे वोले—यह सव हमारे यहां नहीं चलता। हम लोग ऊपर वालों की प्रेस्टिज का वड़ा ख्याल रखते हैं।

मैंने कहा—हमारे इधर तो अंगूठों की वड़ी कीमत है। हमारी आला कमान तो इन अंगूठों के वल पर ही निर्णय लेती है। पिछले दिनों एक वड़े सिंचाई अधिकारी का इसी तरह का आदेश आ गया। वे अपनी जीप में पूरा इलाका घूमते रहे और अंगूठे जमा करते रहे। कुछ कीमती अंगूठे तो उन्होंने वाकायदा कीमत देकर खरीदे भी। फिर जव हजारों अंगूठों की ताकत लगी तो आला कमान को भी लगा कि जनहित में उनका यहां रहना जरूरी है।

वे मुस्कुराकर बोले—हम उस प्रजातन्त्र के लोग नहीं हैं। हमारा अपना प्रजातन्त्र है, अपना संविधान है, अपनी आचार संहिता है। इसी के आधार पर हमने लूटमार को सम्मान का दर्जा दिलाया है। इस घटिया पेशे को सामाजिक मान्यता दिलाई है। हम उन उचक्कों में नहीं हैं जो ट्रेनें लूटते हैं, बैंक लूटते हैं, और रास्ता चलते लोगों को लूटकर गौरवान्वित हो लेते हैं। ऊपर वालों की प्रतिष्ठा ही हमारी प्रतिष्ठा है, इस-

लिये आपका सोचना गलत है। यदि ऐसा होता तो पांच साल तक मैं यहां रह भी नहीं सकता था। अंगूठे लगानेवालों को इतना ज्ञान तो है ही कि जिसे रोका जा सकता है, उसे दूसरी जगह भेजा भी जा सकता है।
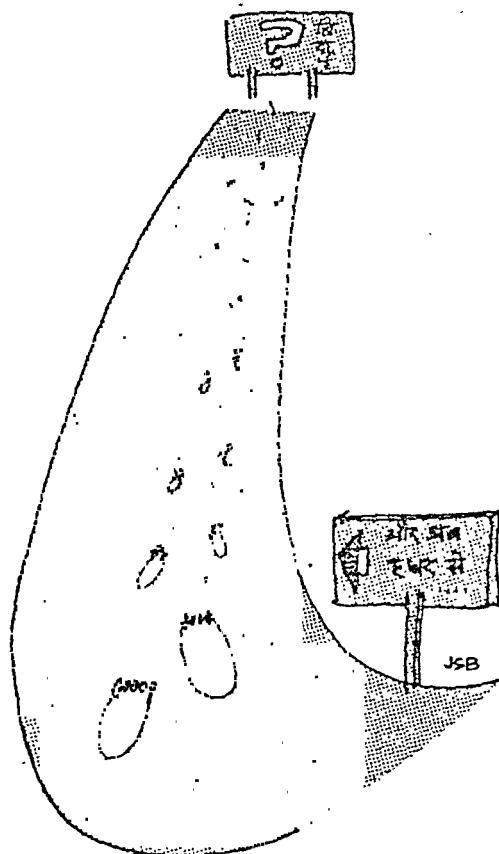
उनकी बातें मुझे अच्छी लग रही थीं। उनके इस समानान्तर प्रजातन्त्र के बारे में मैं और भी कुछ जानना चाहता था, इसलिये मैंने कहा—मैं

चाहता हूं कि आपसे एक इन्टरव्यू लेकर व्यक्ति-चर्चा में आपके बारे में ठोस सामग्री दूं। क्या आप अपने इस प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालेंगे ?

वे बोले—रहने भी दीजिये···मैं बहुत छोटा आदमी हूं। इस तरह की सस्ती लोकप्रियता पर विश्वास भी नहीं है मेरा। हम कर्म में विश्वास करने वाले लोग हैं। गैंग की सदस्यता ग्रहण करने के पहले हमें इस बात की शपथ दिलाई जाती है, कि हम गोपनीयता भंग नहीं करेंगे।

मैंने कहा—लोगों के मन में जिज्ञासा है कि आप अपने इस प्रजातन्त्र के बारे में उन्हें बतायें···यहां के लोग गम्भीरता से इस बात पर विचार कर रहे हैं, कि प्रशासन के लिए कोई नई प्रणाली लागू की जाये···क्या आप यहां के लोगों के हित में भी यह बताना पसन्द नहीं करेंगे ?

वे मुस्कुराए। बोले—बुद्धिजीवी वैसे भी बहुत चालाक होता है। मैं जानता हूं कि तुम यह सब क्यों पूछ रहे हो ? फिर धीरे से यह भी पूछोगे कि यह कोठी, कार और दस करोड़ का बैंक बैलेंस कहां से आया मेरे पास ? क्या अब भी इस इलाके में लूटमार के प्रति इतना स्कोप रह गया है ? बिना किसी के सीने पर बंदूक की नोक रखे यह सब कैसे हो गया ? यह कैसा प्रजातन्त्र है ? लूटमार की यह कौन-सी आचार संहिता है, जो अब भी मुझे समाज में प्रतिष्ठा का पहला दर्जा दे रही है ?

मुझे लगा कि वे कुछ ज्यादा ही भावुक होकर बोल रहे थे। मुझे भी ऐसा महसूस हो रहा था कि मेरे इस सवाल ने उन्हें अन्दर से कहीं झकझोर दिया था, लेकिन मैंने यह भी देखा कि वे बहुत जल्दी नॉरमल भी हो गये। जरा हल्के अन्दाज में मुझसे बोले—इस लूटमार के प्रजातन्त्र को मुझ तक ही सीमित रहने दो। बोलो क्या लोगे ?

तभी फोन की घंटी बजी और वे बहुत धीरे-धीरे फोन पर कुछ देर बातें करते रहे।

मैंने पूछ ही लिया—किसका फोन था ?

बाद में मुझे भी लगा कि मुझे ऐसा नहीं पूछना चाहिए था। वे बुद्धि-जीवी होने के नाते मेरी इज्जत करते हैं, मुझे सम्मान देते हैं, मुझसे खुलकर बातें करते हैं, इसका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे ऐसा सवाल करूं। मेरे

बारे में उनकी धारणा गलत भी बन सकती है।

लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं सोचा था। बोले—दादाजी का फोन था···कह रहे थे कल व्यापारी वर्ग और अधिकारी वर्ग मिलकर मेरे सम्मान में बिदाई समारोह आयोजित करना चाहते हैं···मुझसे स्वीकृति लेना चाहते थे।

थोड़ी देर वे चुप रहे। मैंने ही कहा—क्या कहा आपने ?

वे बोले—सच पूछो तो मेरा मन ही नहीं करता कि मेरे सम्मान में कोई बिदाई समारोह हो···मुझे ऐसे समारोहों से घृणा हो गई है। मुझे लगता है कि लोग जूते मार रहे हैं···इन पुष्पहारों से मुझे नफरत हो गई है···इसलिये मैंने उनसे कह दिया कि मैं इस लायक नहीं हूं, लेकिन वे जिद करते रहे। कहने लगे—ऐसा हो ही नहीं सकता···आप उच्चस्तरीय सेवा में जा रहे हैं और हम आपको बिदाई भी न दें, तो हमारा यहां रहना निरर्थक है···अपने लिए नहीं, आप हमारे लिए ही हां कह दीजिये···आपके साथ हमारे भी हित जुड़े हैं···उनका तो ख्याल रखिये।

मुझे लगा कि बड़े आदमी इसी ढंग से सोचा करते हैं।

नगर में उनकी विदाई के लिए भव्य तैयारियां हो रही थीं। बुद्धिजीवी होने के नाते विदाई समारोह का एक कार्ड उन्होंने मुझे भी भिजवा दिया था।

बिदाई

ईश्वर शर्मा

बिदाई के वक्त दुःखी हो जाने की कला में हम माहिर हैं। विदाई चाहे अफसर की हो, बेटी की हो या फिर अंतिम विदाई ही क्यों न हो, हम दुखी होने का अच्छा अभिनय कर लेते हैं। अच्छा है अब तक कोई महादुखी प्रतियोगिता नहीं हुई, अन्यथा एक से बढ़कर एक दुखी नजर आते, और निर्णायक भी मुश्किल में पड़ जाते।

एक अफसर हैं। पूरा आफिस उनसे परेशान है। केवल खाते हैं। खाने नहीं देते। खुद आफिस नहीं आयेंगे। सैर-सपाटे करेंगे, लेकिन इस बात का बराबर ध्यान रखेंगे कि बाबू लोग आफिस आने-जाने में घंटे-आधे घंटे की डंडी भी न मार पायें। आफिस का न तो वेतन समय पर मिलता है, और ना ही बिल पास होता है। मतलब यह कि इस अफसर से पूरा आफिस परेशान है। अब यह भी कोई बात हुई भला ''' इस देश के सरकारी आफिसों में बाबू लोग समय पर आयें-जायें नियमपूर्वक काम करें। यहां तक तो ठीक है कि आफिस में बैठकर गप्पें न मारें, जासूसी उपन्यास न पढ़ें, लेकिन दिन में तीन-चार बार कैंटीन जाने की छूट मिलनी ही चाहिये। फिर ऊपर से एकदम टाइट मामला। रिश्वत लेना तो दूर, उसके बारे में सोचो भी मत। तो भइया, चल गया ऐसे में आफिस का काम। बाबूओं का क्या है, वे तो किसी भी तरह चला लेंगे, लेकिन आफिस कैसे चलेगा ? फाइलों में पहिये नहीं लगेंगे तो फाइल कैसे सरकेगी ?

ऐसा था आफिस का हाल और इसी आफिस के अफसर थे वे। आफिस कर्मचारियों के सम्बन्ध अफसर से कितने मधुर होंगे, इसका अंदाज आप स्वयं लगा सकते हैं। आफिस के सामने ही एक हनुमानजी का मंदिर है।

आफिस आते-जाते वक्त विला नागा दफ्तर का हर कर्मचारी यहां मत्था जरूर टेकता है, और यही वरदान मांगता है— वजरंगवली, उसका कृष्ण-मुख कर या मुझे कहीं और भेज।

और एक दिन हो ही गया अफसर का ट्रांसफर। होना भी चाहिये। नहीं तो आफिस कैसे चलेगा? फाइलें कैसे चलेंगी···वावू कैसे चलेंगे··· वावूगिरी कैसे चलेगी। इसलिये कभी अफसर को तो कभी वावुओं को इधर से उधर होना ही पड़ता है। अफसर के ट्रांसफर की खवर मिली कि हनुमान मंदिर में कई नारियल फूट पड़े। वावुओं ने तगड़ी अंगड़ाई ली मानो गहरी नींद लेकर उठे हों। अव वहुत दिनों तक सोने की आवश्यकता नहीं रह गई।

परम्परा यह वन गई है कि अफसर चाहे जैसा भी हो, विदाई शानदार होनी चाहिये। इसलिये अफसर के सम्मान में विदाई समारोह आयोजित किया गया। अच्छी पार्टी का इंतजाम था। स्टाफ वालों ने मोटी-मोटी फूल-मालाएं अफसर के गले में डालकर अपनी संवेदनशीलता प्रकट की। मुझे तो कई वार इन विदाई पार्टियों को देखकर महसूस होता है, मानो जान-बूझकर उसे आयोजित किया जाता है। ताकि यदि रुकने-रुकाने का कोई चक्कर चल रहा हो भोपाल-दिल्ली से तो विदाई पार्टी के वाद, शर्म के मारे अफसर भी उस चक्कर में न पड़े। वैसे कई अफसर होते हैं, जो ऐसे नाजुक मौकों पर विदाई पार्टी की मनाई कर देते हैं। कुछ वेशर्म टाइप के अफसर भी मिल जाते हैं, जो विदाई पार्टी भी खा लेते हैं और ट्रांसकर रुकवाकर उसी जगह ठसे रहते हैं। विदाई के ऐसे नमूने भी अपने देश में कम नहीं हैं।

हां, तो इस अफसर महोदय को विदाई पार्टी दी गई। ऐसे वक्त पर मान्यता यही है कि हर व्यक्ति को दुखी और भावुक दिखाई देना चाहिये। ऐसा लगना चाहिये कि उनके जाने से पूरा स्टाफ दुखी है। यही हुआ भी। आफिस का हर कर्मचारी ऐसा लग रहा था, जैसे अव तव रो ही देगा। इन कर्मचारियों में कुछ लोग दुखी होने का रिकार्ड भी तोड़ रहे थे। अपने परिवारजन की मृत्यु के समय भी उन्हें इतना गमगीन नहीं देखा गया था, जितने वे इस विदाई समारोह में नजर आ रहे थे।

चाय-पानी निपट गया। अव भाषणवाजी का दौर शुरू हुआ। दो-तीन

लोग जो वोलने खड़े हुए तो इतने भाव-विह्वल हो गये, कि जुवान ही नहीं खुली। मजवूरन जेव से रूमाल निकालकर आंसू पोंछने जैसा करने लगे। वस, इस विदाई पर उन्होंने अपनी मनोभावना प्रकट कर दी। किसी तरह रूमाल का उपयोग न करते हुए पूरी तरह संयत होकर एक कर्मचारी ने स्टाफ का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—

"आदरणीय अफसर महोदय तथा उपस्थित कर्मचारी वन्धुओ, अपने कर्मचारी जीवन में हमें पहली वार इतने उदार सज्जन और स्नेही अधिकारी मिले थे। (ऐसी ही वात वे पिछले चार-पांच विदाई समारोहों में हर अफसर के लिए कह चुके थे)…और हमें इस वात का गहन दुःख है कि मात्र कुछ महीनों तक ही हमें आपका सान्निध्य मिल पाया। आपसे विछुड़ते हुए हमें कितना दुःख हो रहा है, इसे व्यक्त करने के लिए आज हमारे पास शब्द नहीं हैं। आपने अपने अल्प समय के कार्यकाल में ही मृदु स्वभाव तथा पारिवारिक स्नेह से हमारा मार्गदर्शन किया है, उसे हम कभी नहीं भूल सकते। आपका सान्निध्य कुछ और अधिक दिनों तक हमें मिलता, तो हम शासकीय तथा जनसेवा के कार्यों में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल कर पाते। आपके द्वारा हम पर किये गये विश्वास के लिए हम आपके हृदय से आभारी हैं। हम आपकी उत्तरोत्तर प्रगति व उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।"

वह कर्मचारी जव अपने भावपूर्ण विचार प्रकट कर रहा था, तव कोने में वैठे कर्मचारी अंदर ही अंदर एक-दूसरे को चिकोटी काट रहे थे, लेकिन चिकोटी काटते रहने के वावजूद उनके चेहरों पर वियोग-श्रृंगार वरावर वना हुआ था। मन में 'अच्छा हुआ टला स्साला' और चेहरे पर 'अभी न जाओ छोड़कर' वाले भाव विदाई पार्टियों में अवसर देखने को मिलते हैं।

ऐसे अवसर पर अफसर भी काफी भावुक हो उठता है। कहता है—मैंने अपने इतने वर्षों के कार्यकाल में जितना सहयोग और विश्वास इस आफिस में अपने मातहत कर्मचारियों से प्राप्त किया, उतना मुझे इसके पहले कहीं नहीं मिला। (हां, कर्मचारी तुम्हें अकेले रिश्वत लेते-देते रहे। वंटवारे के लिए कभी झगड़ा नहीं किया तो ऐसे कर्मचारी आजकल और कहां मिलेंगे?) मैं जहां भी रहूंगा, आप लोगों की याद वरावर वनी रहेगी, आती रहेगी। आपने मुझे यहां जो स्नेह और सहयोग दिया, उसके लिए मैं

संगीत की कोई धुन, राग-रागिनियाँ नहीं लगतीं। चार कहार मिलकर समस्त राग कंधे पर लादकर चले जाते हैं। जो लोग अंतिम विदाई देने साथ आते हैं, वे भी *'सब ठाट धरे रह जायेंगे जब लाद चलेगा बंजारा'* सोचकर थोड़ी देर के लिए दुखी हो जाते हैं। आंशिक रूप से इस माया-लोक से मोहभंग हो जाता है, लेकिन कुछ देर को ही। विदाई पूरी भी नहीं हुई कि चेहरे पर रंगत लौट आती है। विषाद पर हास्य-मनोविनोद हावी होने लगता है। इधर अभी धुआं भी नहीं उठा, उधर ठहाके उड़ने लगते हैं।

मतलब यह कि विदाई कैसी भी हो, टेम्पेरेरी या परमानेंट। हम परिस्थिति के अनुकूल अच्छा अभिनय कर लेते हैं। यह अभिनय किसी ट्रेनिंग स्कूल में नहीं सिखाया जाता। किसी से अनुभव लेने की जरूरत नहीं पड़ती, जन्मजात गुण के रूप में ही हमें प्राप्त है। जब विदाई की स्थिति आती है, एक मुखौटा निकालकर कुछ देर के लिए चेहरे पर ओढ़ लेते हैं। जैसे ही परिस्थिति सामान्य हुई, असली चेहरा मुखौटा निकालकर सामने आ जाता है। एक-दूसरे का सही चेहरा हर व्यक्ति जानता-समझता है, लेकिन आखिर करे भी क्या···हर चेहरे पर तो मुखौटा है। कौन किसका नोचे ? कम से कम इन मुखौटों के दम पर विदाई तो कर रहे हैं। अपने असली चेहरे से तो कोई किसी को विदा भी नहीं कर सकेगा।

तो···हमारी भी विदाई है। इस व्यंग्य-जुगलबंदी की विदाई। हमें भी विदा दीजिये। मुखौटा लगाकर हम आये थे, चाहें तो आप भी मुखौटा लगाकर ही विदा कीजिये।

□□